
पुराण-रहस्य

लेखक : सुरजनदास स्वामी

प्रकाशक : कर्पूरचन्द कुलिश

प्रथमावृत्ति : सम्वत् २०४४ वि.

मूल्य : इक्कीस रुपये

मुद्रक : सतीश चन्द्र शुक्ल,
वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

प्रकाशकीय

वेदवाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा ने भारतीय पुराणो को "आर्य सर्वस्व" की संज्ञा दी है और कहा है कि पुराण वेदशास्त्र की कुंजी है। उन्होंने जहाँ वेदविज्ञान पर २०० से अधिक ग्रन्थो की रचना की और पुराणों पर भी ग्रन्थ लिखे। पुराण क्या है, उनका मर्म क्या है, पुराण हमारे इतिहास के ही अग हैं और सहिता में निरूपित विज्ञान का आख्यानो के माध्यम से स्पष्टीकरण करते हैं।

पूज्यवर ओझाजी के ही ग्रन्थों के आधार पर उनके निष्ठावान् शिष्य स्वामी सुरजनदासजी ने पुराणरहस्य नामक प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। राजस्थान पत्रिका ने जब ओझाजी महाराज और मोतीलालजी महाराज के ग्रन्थो के प्रकाशन का कार्य हाथ में लिया तो स्वामीजी इतने प्रसन्न हुए कि न केवल उन्होंने शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद करना शुरू कर दिया अपितु वे फुटकर लेख भी लिखने लगे। इसी प्रसग मे एक बार उन्होने पुराणरहस्य की चर्चा की तो मैंने उन्हे निवेदन किया कि इसका प्रकाशन कर दिया जाय। स्वामीजी ने तुरन्त ही पाण्डुलिपि प्रेस मे दे दी। परिणामत. पुस्तक के रूप मे आज वह प्रस्तुत है।

"पुराणरहस्य" मे क्या रहस्य है, यह पढकर ही जाना जा सकता है। मैं तो इसे पढकर इतना ही निवेदन कर सकता हूँ कि इस लघ ग्रन्थ से पुराणो के प्रति हमारी जो भी धारणाये कालक्रम से बन गई हैं, वे अवश्य ही परिष्कृत हो जायेगी और एक नई दृष्टि प्राप्त होगी। इस ग्रन्थ से श्रद्धालुजन तो लाभान्वित होंगे ही अन्य भी जो लोग पुराणों को कपोल-कल्पना मानते है, अपना दृष्टिकोण वदलने को बाध्य होगे। पुस्तक प्रकाशित करते हुए मुझे परम प्रसन्नता है। स्वामीजी का मैं आभारी हूँ कि उन्होने प्रकाशन का प्रस्ताव स्वयं प्रस्तुत किया।

—क. च. कुलिश



प्राक्कथन

पुराणरहस्य नामक लघु पुस्तिका मे पुराण सम्वन्धी कतिपय वैज्ञानिक रहस्यो का, पुराणों मे प्रतिपादित ८ प्रकार के आख्यानों मे से असदाख्यानरूपी कल्पित आख्यानों का प्रयोजन तथा उनमे प्रतिपादित कतिपय वैज्ञानिक तथ्यो का उद्‌घाटन किया गया है। इसमें पुराणशास्त्र की सहिताकाल से भी प्राचीनता का, तथा पुराणसंहिता के वैदिक कल्प, वेदव्यासीय कल्प, लोमहर्षणीय कल्प एव औग्रश्रवस भेद से चार कल्पो का निरूपण किया है। वेदव्यासीय द्वितीय कल्प मे अवान्तर विभाग प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ काण्ड का प्रतिपादन किया है। पुराणशास्त्र मे १८ प्रकार की आत्माओ का भी सक्षिप्त निरूपण है इस तथ्य का भी यहाँ कथन किया गया है। गीता, पुराण व महाभारत की ज्ञान-विज्ञानगास्त्रता, ज्ञानशास्त्र की तरह विज्ञानशास्त्र की आत्मशास्त्रता तथा पुराण वेदार्थज्ञान का उपाय है इन बातो का भी इस मे उल्लेख है। १८ पुराणो मे से आदि के ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, भागवतपुराण व नारदपुराण मे आधिदैविक सृष्टि का, तथा इससे आगे के मर्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण इन चार पुराणों मे आध्यात्मिक आत्मचतुष्टयमूलक शारीरिक सृष्टि का प्रतिपादन है। तदन्तर लिङ्गपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण व मत्स्यपुराण इन ६ पुराणो मे सृष्टिविषयक अवान्तर मतों का अर्थात् सृष्टि के अवान्तर कारणो का प्रतिपादन है। इस प्रकार सृष्टि का निरूपण करने के बाद गरुडपुराण में प्रतिसृष्टि का निरूपण किया गया है तथा अन्तिम ब्रह्माण्डपुराण मे सृष्टि व प्रतिसृष्टि के आयतन का प्रतिपादन है।

गरुडपुराण में गरुड, गरुत्मान् या सुपर्ण क्या वस्तु है? इसका भी समीचीन विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार सृष्टि, प्रतिसृष्टि व उनके आयतन का निरूपण करने वाला पुराणशास्त्र ६, ४, ६, १, १ भेद से पञ्चधा विभक्त है किन्तु आयतन विभाग को प्रतिसृष्टि विभाग के अन्तर्गत मान कर पुराणविद्या चतुर्धा ही विभक्त है। यह विद्या अति प्राचीन थी। सहिता काल से भी पूर्व विद्यमान थी। इसीलिए इस विद्या को पुराणविद्या तथा पुराणशास्त्र से व्यपदिष्ट किया गया है।

यद्यपि भगवान् वेदव्यास ने सृष्टि, प्रतिसृष्टि व उनके आयतन के निरूपक १८ पर्वो मे विभक्त एक ही पुराणसहिता का निर्माण किया था। इसके बाद उनके शिष्य लोमहर्षण तथा उनके शिष्य शांशपायन, सार्वाण तथा कश्यप ने एक-एक ही पुराणसहिता का निर्माण किया था जिन पुराणसहिताओ में वेदव्यास द्वारा प्रतिपादित विषयो से अतिरिक्त विषयो का भी सनिवेश किया था। किन्तु वाद मे लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा ने शौनकादि ऋषियो को जव पुराणसहिता का श्रवण कराया तव शौनक के प्रश्न तथा लोमहर्षण व उग्रश्रवा के समाधान के द्वारा उसका कलेवर बढ़ा और १८ पर्व १८ पुराण ग्रन्थो के रूप मे परिणत हो गये।

इसमें १८ पुराणो के निरूपण के अनन्तर इन पुराणो मे प्रतिपाद्य विषयों का वैज्ञानिक स्वरूप भी वतलाया गया है। अर्थात् वामन, वराह, स्कन्द (कुमाराग्नि) मत्स्य आदि के वैज्ञानिक स्वरूप का व्राह्मण श्रुतियो के आधार पर किया गया है जो कि सर्वथा नवीन वस्तु है। शिवपुराण, वृहन्नारदपुराण आदि कतिपय पुराणो के द्वारा पुराणों की संख्या १८ से अधिक हो गई है, इसका समाधान भी इस पुस्तक मे प्रस्तुत किया गया है। पुराणो के पांच लक्षणों का तथा उन लक्षणों मे प्रत्येक लक्षण के पाञ्चविध्य का प्रतिपादन इस ग्रन्थ मे किया गया है। १८ पुराणो के विषयो का निरूपण करने के बाद पुराणो मे ऋषियों की ६० हजार वर्ष आदि की जो आयु वतलायी गयी है उसका तात्विक समाधान भी इस पुस्तक मे 'आयुदार्यविचार' नामक प्रकरण मे किया गया है। पुराणों मे असदाख्यानो, (कल्पित आख्यानों) का भी निरूपण है व उसको लेकर पुराणो में जो अप्रामाण्य प्रतीत हो रहा है इसका समाधान भी इस पुस्तक में वतलाया गया है। वसिष्ठादि ऋषियों के मैत्रावरुणि, उर्वशीपुत्र आदि के कथन का भी रहस्य वतलाया गया है। अन्त में प्लक्ष, शालमलि, कुश, क्रौञ्च, शाक व पुष्कर द्वीप की सत्ता कहाँ है इसका भी विवेचन इसमे प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस लघु पुस्तिका मे पुराणों की कितनी ही बातों का रहस्य यथामति वतलाया गया है। मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक पौराणिक रहस्यो के उद्घाटन द्वारा विद्वानों का मनोरंजन कर सकेगी।

इति शम्॥

अक्षय तृतीया शुक्रवार
स. २०४४

विद्वद्विधेय
सुरजनदास स्वामी

पुराणरहस्य

यह 'पुराणरहस्य' नामक पुस्तक स्वर्गीय गुरुवर्य वेदविद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी महाराज के 'पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग' तथा 'पुराणनिर्माणाधिकरण' नामक ग्रन्थो के आधार पर लिखी गई है। इस में १८ प्रकार की आत्माओं का, पुराणशास्त्र की सहिता काल से भी प्राचीनता का, पुराणसहिता के वैदिककल्प, वेदव्यासीयकल्प, लोमहर्षणीयकल्प तथा औग्रश्रवसकल्प भेद से चार कल्पो का और १८ प्रकार के पुराणो मे आदि के ६ पुराणो मे आधिदैविक सृष्टि का, आगे के मार्कण्डेयादि चार पुराणो मे सृष्टिकारणताविपयक चार मतो का, इससे आगे के लिङ्गपुराणादि ६ पुराणो मे प्रजापति के अवतारभूत, सृष्टि के ६ अवान्तर कारणो का, गरुडपुराण में प्रतिसृष्टि का तथा अन्तिम ब्रह्माण्डपुराण मे सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि के आयतन का निरूपण किया गया है।

यद्यपि भगवान् वेदव्यास ने सृष्टि प्रतिसृष्टि व उनके आयतन के निरूपक १८ पर्वो मे विभक्त एक ही पुराणसहिता का निर्माण किया था। भिन्न-भिन्न १८ पुराणो के निर्माता भगवान् वेदव्यास के शिष्य लोमहर्षण तथा उनके पुत्र उग्रश्रवा है। उन्ही ने नैमिषारण्य मे रहने वाले सत्रयज्ञ का अनुष्ठान करने वाले शौनकादि ऋषियों को सृष्टिप्रतिपादक पुराणो का श्रवण करवाया था तभी ये विभिन्न १८ पुराण बने थे। ये पुराण सूतशौनकसवादरूप है तथापि भगवान् वेदव्यास को इनका कर्त्ता इस आधार पर माना गया है कि १८ पुराणों में जिस विषय का निरूपण किया गया है उनका मूल वेदव्यासीय १८ पर्वात्मक पुराणसहिता ही थी। अन्त में पुराणों के ५ लक्षणों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह लघुग्रन्थ भी अनेक अत्युपयोगी विषयों का निरूपण करने वाला है। पुराणो के वैज्ञानिक क्रम तथा वैज्ञानिक विषयों का प्रतिपादन इसमे हुआ है।

प्राचीन युग में श्रीकृष्णद्वैपायन ने सृष्टिप्रतिपादक पुराणविद्या का आविर्भाव किया था। समयप्रभाव से अज्ञानान्धकार से आवृत उस पुराणविद्या का स्वर्गीय गुरुवर्य विद्यावाचस्पति श्रीमधु-

सूदनजी ओझा ने प्रतिसंस्कार किया जिससे कि वह पुराणविद्या प्रकाश में आ सके। स्वर्गीय श्री विद्यावाचस्पतिजी ने वेदविद्यारूपी समुद्र के अन्तस्तल का शोधन कर प्रथम विज्ञानशास्त्र का उद्धार किया। पश्चात् वेदविज्ञान के द्वारा उन्होंने विश्व-सृष्टि का ज्ञान प्राप्त कर इस आनन्दजनक पुराणशास्त्रविज्ञान का निरूपण 'पुराणोत्पत्ति-प्रसङ्ग' तथा 'पुराणानिर्माणाधिकरण' नामक ग्रन्थो में किया। उसी विज्ञान का प्रतिपादन उन ग्रन्थो के आधार पर संक्षेप से इस 'पुराणरहस्य' में किया जा रहा है।

विश्वसृष्टि का इतिहास पुराण कहलाता है। यह पुराणशास्त्र विद्या, शिल्प, कला आदि अनेक अतिगम्भीर विषयो से युक्त होने के कारण महाशास्त्र है। इस पुराणशास्त्र के निम्नलिखित चार कल्प हैं—१. वैदिक कल्प, २. वेदव्यासीय कल्प, ३. लोमहर्षणीय कल्प, और ४. औग्रश्रवस कल्प।

१. वैदिक कल्प

इस कल्प में वैदिक सहिताओं तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थो में एवं उससे भी पूर्व उपलब्ध सृष्टिविज्ञान का निरूपण है।

प्राचीन काल मे कतिपय मन्त्रग्रन्थो तथा ब्राह्मणग्रन्थो के आविर्भाव से पूर्व या उनके समकाल में ही ब्रह्माण्डपुराण नाम का एक शास्त्र था जिसमें सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि (प्रलय) का निरूपण था, जिसका प्रारम्भ 'इद वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्' इत्यादि से हुआ था। उसी को लक्ष्य करके 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराण विद्या उपनिषदः श्लोका सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि' इस शतपथब्राह्मण श्रुति में 'पुराण' का उल्लेख है। इसमें पुरावृत्तपरम्परा का कथन तथा ब्रह्माण्डसृष्टि का विचार होने से इसको 'ब्रह्माण्डपुराण' शब्द से कहा गया था। जैसा कि मत्स्यपुराण के निम्नश्लोको से स्पष्ट हो रहा है—

> पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथम ब्रह्मणा स्मृतम्।
> अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
> पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ।
> त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥

कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ।
तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते ।।

पुराण पुरावृत्तपरम्परा का निरूपण करता है, इसीलिए इसे पुराण शब्द से कहा गया है। इसका भी उल्लेख 'पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्' इस पद्मपुराण के वचन में किया गया है।

वृहन्नारदीयपुराण में भी—पहिले ब्रह्माण्डपुराण नामक एक पुराण चार लाख श्लोको का था। उसी को व्यासमुनि ने १८ पुराणो मे विभक्त कर दिया तथा व्यास ने मेरे से पुराण सुन कर ही १८ पुराणो का निर्माण किया।[1] ऐसा उल्लेख मिलता है।

इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्माण्डपुराण नामक आदिम पुराण-ग्रन्थ से ही महर्षियो ने मन्त्रार्थ के उपयोगी आधिदैविक, आध्यात्मिक व आधिभौतिक आख्यानो का ब्राह्मणग्रन्थों मे कथन किया है। इसी अभिप्राय से—

'सोमो वै राजाऽमुष्मिल्लोक आसीत्, त देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन्, कथमयमस्मात् सोमो राजाऽऽगच्छेदिति। तेऽब्रुवन् छन्दासि यूयं न इम सोम राजानमाहरतेति। तथेति ते सुपर्णा भूत्वोदपतन्। ते यत् सुपर्णा भूत्वोदपतन्, तदेतत् सौपर्णमिति आख्यानविद आचक्षते।' इति

अर्थात् सोमराजा तृतीय द्युलोक (परमेष्ठिलोक) मे था। जैसा कि 'तृतीयस्या वा दिवि इत. सोम आसीत्' इस तैत्तिरीय श्रुति से सिद्ध हो रहा है। ऋषियो और देवताओ ने विचार किया कि यह सोम हमें प्राप्त हो जाय। उन्होने गायत्री आदि छन्दो से कहा कि आप हमें इस सोम को ला देवे। वे छन्द सुपर्णरूप धारण कर उड़े। यही सौपर्णाख्यान है, ऐसा आख्यानवेत्ता कहते हैं। इस रूप से ऐतरेय ब्राह्मणादि ग्रन्थों मे ऐतरेयादि ऋषियो ने पूर्वसिद्ध आख्यानों का ही कथन किया है। जैसा कि 'इति आख्यानविद

---

१. ब्रह्माण्डं च चतुर्लक्ष पुराणत्वेन पठ्यते।
तदेव व्यस्य गदितमत्राष्टादशधा पृथक् ॥१॥
पाराशर्येण मुनिना सर्वेषामपि मानद।
वस्तु दृष्ट्वाथ तेनैव मुनीना भावितात्मनाम् ॥२॥
मत्तः श्रुत्वा पुराणानि लोकेभ्य· प्रचकाशिरे ॥ इति ॥

आचक्षते' इस वचन से प्रतीत हो रहा है। अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों में उद्धृत आख्यानों के निर्माता ब्राह्मणकार ऋषि नही है किन्तु वे पूर्व-सिद्ध आख्यानो का ही मन्त्रार्थ की प्रतिपत्ति के लिए कथन करते हैं। क्योकि ब्राह्मणग्रन्थों के निर्माता ऋषि मन्त्रों मे बतलाये हुए अर्थ का उपपादन करने के लिए उन आख्यानों को उद्धृत करते हैं। अतः उन आख्यानों को मन्त्ररचना के उत्तरकाल का नही मान सकते। इसलिए यह सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थनिर्माता ऋषियो ने ब्रह्मविरचित ब्रह्माण्डपुराण से ही मन्त्रार्थोपयोगी अर्थ के उप-पादनार्थ उन आख्यानो को संकलित किया है। इसी तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित पुराणवचन कर रहा है—

'सूतेनानुक्रमेणेदं पुराण सम्प्रकाशितम्।
ब्राह्मणेषु पुरा यच्च ब्रह्मणोक्त सविस्तरम्॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड)

इन ब्राह्मणग्रन्थो में सूत्ररूप से सब विद्याओ का उल्लेख होने पर भी विशदरूप से तथा सजातीय वस्तुओं का एक ही स्थान में क्रम-बद्धरूप से पृथक् पृथक् उल्लेख न होने से उनकी स्पष्ट प्रतीति नही हो रही थी, इस क्लेश को देखकर शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए विशिष्ट बुद्धिवाले महर्षियो ने उन ब्राह्मणग्रन्थो से यथाबुद्धि भिन्न भिन्न विद्याओ को अलग निकाला तथा युक्ति आदि द्वारा परिपुष्ट कर उनको प्रचारित किया। जैसे—कपिल ने सांख्यविद्या का, पतञ्जलि ने योगविद्या का, वात्स्यायन ने कामसूत्र का, मन्वादि ने धर्मसूत्र का, धन्वन्तरि, चरक आदि ने आयुर्वेदशास्त्र का, यास्क आदि ने निरुक्तशास्त्र का, इन्द्र तथा पाणिनि आदि ने व्याकरणशास्त्र का प्रवर्तन किया। इसी प्रकार वसिष्ठ के प्रपौत्र, शक्ति के पौत्र व पराशर के पुत्र तथा सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न भगवान् व्यास ने लोकोपकार के लिए सकल ब्राह्मणग्रन्थों से सभी उपाख्यानों को सकलित करके चिरकाल से प्रचलित तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थो में उल्लिखित गाथाओं का सग्रह कर, कथाप्रसङ्ग मे सगत होने वाली कल्पशुद्धियो को सम्मिलित कर, लौकिक आख्यानों का मिश्रण कर उपर्युक्त वेदरूप ब्रह्माण्डपुराण ग्रन्थ में प्रतिपादित सृष्टि व प्रलयरूप विषयो का निरूपण करने हेतु एक नवीन पुराणसहिता का निर्माण किया। उस पुराणसहिता मे ब्राह्मणादिग्रन्थो मे उल्लिखित विश्वसृष्टिविद्याओं का एकत्र

समुच्चय करने के कारण पुराणसहिता से उसे व्यवहृत किया तथा सूतजाति के लोमहर्षणनामक अपने शिष्य को उसे पढाया।

तात्पर्य यह है कि वेदव्यासीय पुराणसहिता का मूलभूत विश्वसृष्टिप्रतिपादक ब्रह्माण्डपुराण नामक ग्रन्थ ही वेदकल्पीय सृष्टि व प्रलय का प्रतिपादक पुराणशास्त्र है।

२. वेदव्यासीय कल्प

भगवान् वादरायण (वेदव्यास) ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि इन चार विषयो से युक्त 'पुराणसहिता' का निर्माण किया। इसका तात्पर्य यह है कि वेदकल्पीय पुराणप्रकरण की अपेक्षा वादरायणकृत पुराणसहिता मे उपर्युक्त आख्यानादि चार विषय अधिक थे।

स्वसत्ताकाल मे होने वाला अपने द्वारा दृष्ट इतिवृत्त आख्यान कहलाता है। अपने द्वारा दृष्ट न होने पर भी अपने समय से कुछ ही पूर्वकाल मे घटित अत एव श्रुत इतिवृत्त उपाख्यान कहलाता है। जिन इतिवृत्तो (इतिहासो) के वक्ता का निश्चय नही है किन्तु जो परम्परा से सुने जाते रहे हैं, ऐसे इतिवृत्तविषयक वचन 'गाथा' कहलाते है। इतिहास से सम्बन्धित धर्मशास्त्र आदि मे प्रतिपादित ज्ञातव्य व कर्तव्य (जानने योग्य व करने योग्य) धर्मशास्त्रादिग्रन्थो से पौराणिक इतिहास विभाग मे अनूदित वचन कल्पशुद्धि कहलाते हैं। वेदशास्त्र तथा पुराणशास्त्र के अवतरण आदि विषयो का भी कल्पशुद्धि मे ही समावेश है। भगवान् वेदव्यास ने ही सर्वप्रथम पुराणशास्त्र के १८ विभागों का भी ज्ञान प्राप्त किया। इससे पूर्व वेदो में सृष्टिविद्या का प्रतिपादन तो था जैसा कि वैदिक कल्प मे बतलाया जा चुका है किन्तु सृष्टिविभागक्रम का उपदेश उस समय नही किया गया था। यह कार्य वेदव्यास जी ने ही किया। यह वेदव्यासीय कल्प पुराणविद्या मे द्वितीय कल्प कहलाता है।

३. लोमहर्षणीय कल्प तथा

४. औग्रश्रवस कल्प

पुराणविद्या का प्रचारक वेदव्यास का शिष्य लोमहर्षण था। उसने वेदव्यासविरचित अष्टादशप्रकरणो मे विभक्त पुराणसंहिता का

अध्ययन किया और वेदव्यासरचित पुराणसंहिता के आधार पर स्वयं लोमहर्षण ने भी एक पुराणसंहिता की रचना की और उसमें वेदव्यासविरचित पुराण के आख्यानादि चार विषयों से भिन्न सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंश तथा वंश्यानुचरित—इन पांच लक्षणों का भी समावेश किया। बाद में नैमिषारण्य में पहुंचकर शौनकादि मुनियों के समाज में पुराणसहिता का प्रचार किया। वहाँ शौनक के अनेकविध प्रश्नों तथा लोमहर्षण व उग्रश्रवा के उत्तरो के प्रसङ्ग से क्रमभेद हो जाने के कारण षट्संवादिक्रमलक्षण अठारह ग्रन्थ पुराणो के वन गये। उनमे आठ पुराणग्रन्थ लोमहर्षण के द्वारा तथा दस उसके पुत्र उग्रश्रवा के द्वारा सम्पादित हैं। ये षट्संवादिक्रम से निष्पन्न सूत तथा शौनक के सवाद वाले भिन्न भिन्न अठारह पुराणग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। इन्ही षट्सवादिक्रमसिद्ध सूतशौनकसंवादात्मक पुराणग्रन्थों का अधिक प्रचार हो जाने से प्रथम वेदव्यासविरचित तथा द्वितीय लोमहर्षणविरचित पुराणसंहिता विलुप्त हो गयी—ऐसा अनुमान है। प्रचलित पुराणग्रन्थो मे प्रश्नोत्तरक्रम के अनुरोध से वास्तविक सृष्टिक्रम में कही-कही विपर्यय हो गया है, इसलिए आज सृष्टिविद्या का समीचीन प्रकरणबद्ध स्वरूप नहीं मिलता। वेदप्रतिपादित सृष्टिविद्या की सहायता से सृष्टिप्रकरण के सामञ्जस्य के लिए स्वर्गीय गुरुवर्य विद्यावाचस्पतिजी ने समझा कि ऐसा प्रयास करना चाहिए जिससे सृष्टिप्रकरण में सामञ्जस्य वन सके।

गीता, पुराण तथा महाभारत की ज्ञान-विज्ञानशास्त्रता

योगी वासुदेवकृष्ण तथा द्वैपायनकृष्ण ने लोक को विज्ञानसहित ज्ञान की शिक्षा दी। उनमें आत्म-विषयक ज्ञान ज्ञान कहलाता है और विश्वविषयक ज्ञान विज्ञान कहलाता है। विश्व मे सर्वत्र एक आत्मा व्याप्त है, यह ज्ञान है तथा एक आत्मा में यह सकल विश्व स्थित है—यह विज्ञान है। भगवान् वासुदेव ने अव्यय आत्मा का प्रतिपादन किया है जो कि अव्यय आत्मा विश्वसृष्टि का कारण नही है, और जो स्वस्वरूप से अविभक्त होते हुए भी विभक्त वस्तुओ में विभक्त की तरह स्थित है। भगवान् कृष्ण के द्वारा कथित यह अव्ययात्मा का विज्ञान ही गीताशास्त्र कहलाता है। स्मार्त उपनिषदो के समुदाय को गीता कहते हैं। कृष्णद्वैपायन ने

सृष्टि के कारण अक्षरात्मा का प्रतिपादन किया है। क्षरात्ममिश्रित अक्षरात्मा ने ही इस सृष्टि को सर्वप्रथम उत्पन्न किया। क्षर, अक्षर, अव्यय ये तीनो मिलकर एक ही आत्मा है। तीनों पुरुषों के मिश्रण से वना हुआ एक पुरुष ही सर्व (सब कुछ) है—यह सिद्धान्त है। चतुरध्यायात्मक शारीरक ब्रह्मसूत्र में सोलह पाद वतलाये गये हैं। ये सोलह पाद—जीवात्मा षोडशकल है—इस तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं। इनमें अव्ययात्मा—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् भेद से पञ्चकल है। अक्षरात्मा—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम भेद से पञ्चकल है। क्षरात्मा—प्राण, आप , वाक्, अन्न और अन्नाद भेद से पञ्चकल है। इस प्रकार अव्यय-अक्षर-क्षर-समष्टिरूप पुरुष की पन्द्रह कलाएँ हो जाती हैं और सोलहवी कला परात्पर है। यही जीवात्मा की सोलह कलाएँ हैं। इसलिए श्रुति में पुरुष को 'षोडशकल: पुरुष:' इस रूप से षोडशकल वतलाया है। यह श्रुति शुक्ल यजुर्वेद के ग्यारहवे काण्ड में है। वेदव्यास द्वारा कथित विज्ञान—पुराण, ब्रह्ममीमांसा तथा महाभारत भेद से त्रिधाभूत है अर्थात् तीन भागो मे विभक्त है। उन्होने पुराणों के द्वारा सृष्टि का विज्ञान, ब्रह्ममीमासा के द्वारा आत्मा का ज्ञान तथा इतिहास के द्वारा नीति और धर्म का विज्ञान वतलाया है। इतिहास विभाग मे 'जय' नामक महाभारत आता है। उसमे लौकिकधर्म तथा नीति का निरूपण किया गया है।

तात्पर्य यह है कि—१. भगवान् कृष्ण ने गीता मे अव्ययात्मा का ज्ञान वतलाया।

२. कृष्णद्वैपायन ने ब्रह्मसूत्र मे अक्षरात्मा का निरूपण किया।

३. कृष्णद्वैपायन ने ही पुराणो मे सृष्टि व प्रलय का विज्ञान वतलाया।

४. तथा इतिहास (महाभारत) मे धर्म तथा नीति का निरूपण किया।

ज्ञानशास्त्र की तरह विज्ञानशास्त्र भी आत्मशास्त्र है—

उपर्युक्त रीति से ईश्वररूप वासुदेवकृष्ण तथा द्वैपायनकृष्ण ने प्राचीन समय में ज्ञान-विज्ञान शास्त्र का एक साथ ही लोक मे प्रचार किया। गीता के द्वारा अव्ययात्मा के ज्ञान का, ब्रह्मसूत्रो के द्वारा आत्मकर्म का अर्थात् अक्षरात्मा के ज्ञान का, पुराणो के द्वारा सृष्टि-

प्रतिसृष्टिरूप आत्मधर्मों का तथा इतिहास के द्वारा धर्म तथा नीति का प्रतिपादन किया। आचार्य के भेद से तथा वक्तव्यांश व आत्मांश के भेद से इनके चार भेद हो जाने पर भी यह एक ही आत्मविज्ञान है। इतिहास, पुराण, ब्रह्ममीमांसा गीता, दर्शन, वेदान्त, ब्राह्मण, तथा सहिता—ये सब विज्ञान शास्त्र है और ये सब विज्ञानशास्त्र आत्मशास्त्र है क्योंकि इनमें आत्मसम्बन्धी विषयों का ही पृथक्-पृथक् रूप से निरूपण किया गया है।

पुराणशास्त्र वेदार्थज्ञान का उपाय है—

इतिहास और पुराण कालभेद से विभिन्न हो जाते हैं किन्तु अज्ञान के कारण या धृष्टता से उन इतिहास और पुराणों की अवहेलना नही करनी चाहिए। सत्यवती के पुत्र भगवान् वेदव्यास ने अठारह पुराणों की अर्थात् अष्टादशप्रकरण वाली पुराणसंहिता की रचना के बाद वेदार्थों का निरूपण करने वाले महाभारत रूप इतिहास की रचना की। जो पुराण के द्वारा सम्यक् प्रकार से खगोल, भूगोल तथा महाभारत के द्वारा इतिहास को जानता है, वही वेदार्थ को जान सकता है। भगवान् वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि से युक्त पुराणसंहिता की रचना की। जो व्याकरणादि षडङ्गो सहित तथा उपनिषत् (उपपत्तिज्ञान) सहित चारो वेदो का अध्ययन कर चुका है किन्तु जो पुराण को नही जानता, उसकी वेद मे गति नही हो सकती अर्थात् वह वेदार्थ को नही जान सकता। जिस गूढ विज्ञान का वेदो तथा स्मृतियों के द्वारा भी ज्ञान नही होता वह गूढविज्ञान पुराणो के द्वारा जाना जाता है। वेद में जिस ज्ञान का प्रतिपादन हुआ है, उसका पुराण में चरित्रों के द्वारा कथन किया गया है। उसको वेददृष्टि ही समझनी चाहिए क्योकि पुराण सर्वतोमुख है। इतिहास और पुराण के द्वारा वेदज्ञान को सुदृढ बनाया गया है क्योकि इतिहास और पुराण मे वेदविज्ञान चरित्रों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। जो पुराणों के रहस्य को नही जानता, उसको वेदार्थ का प्रकाश भी नही होता। अल्पश्रुत से यह वेद डरता है कि यह मुझ पर प्रहार करेगा।

अतः पुराणविद्या का अध्ययन वेदार्थज्ञान के लिए आवश्यक है। वह हेय तथा अनुपादेय नही है। पुराणशास्त्र की अष्टादशविधता

आत्मविज्ञान की अष्टादशविधता पर आश्रित है। जिसका आगे प्रतिपादन किया जा रहा है।

सकल संसार सत्यप्रजापतिरूप है । वह तीन भागो मे विभक्त है—आत्मा, प्राण तथा पशु । इन तीनो की समष्टि ही एक प्रजापति कहलाता है। आत्मा अचिन्त्य होते हुए भी प्राणरूप से सत्य है और वह सत्य प्राणरूप प्रजापति अग्नि ही है। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने इसको अनेक प्रकार से बतलाया है । यह आत्मा अचिन्त्य, प्राण, अग्नि, महान् इत्यादिरूप से जहाँ तहाँ अनेक रूपो मे बतलाया गया है। जो केन्द्र मे निगूढ आत्मा है, वह निर्धर्मक है अर्थात् सब धर्मो से अतीत है। वह न वाणी तथा न मन का विषय है, वह अनिर्वाच्य है। क्योकि उसका निर्वचन नही हो सकता। किन्तु वही आत्मा सर्वधर्मोपपन्न होने पर सर्व कहलाता है। उसमे सत् तथा असत् का समन्वय होता है, अत: उसे सत्य कहते हैं। 'क' ब्रह्म सद्रूप है। यह वायु है, पूर्ण है तथा स्थान का अवरोधक है। 'ख' ब्रह्म असत् है, आकाशरूप है, शून्य है तथा सत् के द्वारा उसकी पूर्ति होती है। आकाशरूप असद् सत् वायु के द्वारा परिपूर्ण है। यही असत् की सत् से परिपूर्णता है। इस प्रकार सर्वब्रह्म में सद्-असद् का योग होने पर भी सत्ता के एक होने से उसकी अद्वैतता में कोई बाधा नही आती। इसलिए उसे सत्य ही कहते हैं। जो 'सत्' है वह अस्ति रूप है और उसमे 'त्य' असद्रूप है। इन दोनो के (सत् और त्य के) योग से सत्य बनता है। यह असत् विश्व सत्यरूप आत्मा मे स्थित है। इनमें असद् ब्रह्म को बल कहते है तथा सद्ब्रह्म को रस। बल मे रस का समावेश होने पर रस के प्रवेश से बल के परिपूर्ण हो जाने पर रस बलयुक्त बन जाता है। बलयुक्त रस को ही सत्य कहते हैं। सत्यस्वरूप आत्मा मन, प्राण, वाक् इन तीन तन्त्रों का निरन्तर सम्प्रयोग करता रहता है। सर्वतोमुख यह सत्यात्मा मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय है, चूकि यह आत्मा मन.प्राणवाङ्मय है, इसलिए यह काम, तप व श्रम के द्वारा क्रमश. इच्छा, क्रिया व अर्थो का सम्पादन करता है। काम से इच्छा, तप से क्रिया और श्रम से अर्थ। ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छा से सकल्प, सकल्प से क्रिया और क्रिया द्वारा अर्थ की निष्पत्ति होती है। घट को चाहने वाला आत्मा घट के उपादानकारणभूत

मिट्टी पर वाग्व्यापाररूप श्रम करता है और प्राणों द्वारा उस पर बल का प्रयोग करता है। इस प्रकार बलबन्धनरूप घट की उत्पत्ति करता है। वह घट के उपादानकारण मिट्टीरूप सद् मे इच्छा, तप तथा श्रम के द्वारा असद्रूप बल का बन्धन कर घटरूप अर्थ को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। विश्वसृष्टि मे—काम, तप और श्रम—ये कार्यमात्र के साधारण कारण है, इस तथ्य को भगवती श्रुति भी बतला रही है—

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥।"

सत्यप्रजापतिरूप आत्मा सोलह कला वाला है। इनमे मध्य के चार प्राण चार कलाए हैं, जिन्हे आत्मा कहा जाता है। दो प्राण अर्क है। इन्हे पक्षप्राण कहा जाता है, जो कि आत्मा में वीर्याधान करते है। और दश कलाए पशुप्राण है, जिसमे दो अर्वाक् प्राण हैं जो कि मलमूत्रनिर्गमस्थान है। सात शीर्षण्य प्राण है, इन्हे साकञ्जप्राण कहा जाता है और दसवा प्राण नाभि है, वही पुच्छप्राण है जो कि शरीर की प्रतिष्ठा है। आत्मा के प्रतिष्ठाभूत ७ शीर्षण्य प्राण है, जिन्हे ब्रह्मप्राण भी कहा जाता है। इस प्रकार कण्ठ से नाभि तक मध्यशरीररूप ४ आत्मप्राण—इन प्राणों मे वीर्याधायक दो पक्षरूप प्राण, एक शरीरप्रतिष्ठाभूत पुच्छप्राण तथा आत्मप्राण, पक्षप्राण व पुच्छप्राणरूप ७ प्राणों के रस से निष्पन्न आत्मप्रतिष्ठारूप सात शीर्षण्य प्राण तथा दो मलमूत्रनिर्गमस्थानरूप अर्वाक् प्राणभेद से आत्मा की १६ कलाये हैं। इस तरह आत्मा षोडशकल है तथा ईश्वर और जीव ये दो कलाएँ आत्मा की और है। संभूय आत्मा की ये अठारह कलाएँ हो जाती है। आत्मा के अष्टादशकल होने से आत्मशास्त्ररूप पुराण के भी अठारह विभाग हैं।

एक ही आत्मा १८ प्रकार का है, इस बात को बतलाने के लिए कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी ने तथा भगवान् वासुदेव कृष्ण ने आत्मा का निरूपण करते हुए अष्टादशभेदभिन्न आत्मशास्त्र का निर्माण किया। इसीलिए पुराणशास्त्र, महाभारत तथा गीता तीनों ग्रन्थ १८ विभाग वाले है। महाभारत मे १८ पर्वरूप विभाग हैं। पुराणशास्त्र मे १८ प्रकरणरूप विभाग है। और भगवद्गीता

मे १८ अध्यायरूप विभाग हैं। क्योंकि आत्मा १८ भेदवाला है, १८ प्रकार का है । इसीलिए १८ प्रकार के आत्मा के प्रतिपादक, पुराण, महाभारत तथा गीताशास्त्र भी १८ विभागवाले हैं।

यद्यपि दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न असीम आत्मा एक ही है। तथापि विश्व मे स्थित या विश्व मे प्रविष्ट आत्मा की ३ परिस्थितियाँ बन जाती हैं। और वे तीनो प्रकार की परिस्थितियाँ १८ निकायवाली हैं । अतः निकायभेद से एक ही असीम अपरिच्छिन्न आत्मा के विश्वप्रविष्ट होने पर १८ भेद हो जाते हैं। उन्ही निकायभेदो का तथा उनके भेद से १८ आत्मभेदों का संक्षेप से निरूपण किया जा रहा है—

१८ निकायों के भेद से आत्मा के १८ भेदों का निरूपण

जीव व ईश्वर भेद से आत्मा दो प्रकार का है। ईश्वर असीम व जीव ससीम है । इसी ईश्वर व जीव का स्वरूपविवेचन भगवद्गीता, ब्रह्ममीमांसासूत्र, पुराणशास्त्र तथा इतिहास के द्वारा किया गया है । क्योंकि स्वरूपत. एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की अपेक्षा से इस आत्मा के आयतन १८ प्रकार के है । और आत्मायतन से अवच्छिन्न आत्मा भी चूंकि १८ प्रकार का हो जाता है, इसलिये इस आत्मतत्व के निरूपण करने वाले सभी शास्त्र प्राय. १८ भागों मे विभक्त है, एव इतिहासरूप महाभारत भी १८ पर्वों मे विभक्त है। केवल ब्रह्ममीमासाशास्त्र १६ पादों में विभक्त है । इसका कारण आगे प्रदर्शित किया जायगा ।

भिन्न-भिन्न परिस्थितिमूलक आत्मायतन १८ किस प्रकार से है ? और कौन से है ? इसी विषय का सर्वप्रथम सक्षेप से निरूपण किया जाता है ।

प्रजापतिरूप आत्मा से देवता और भूत यह दो प्रकार की सृष्टि होती है । इस प्रकार दो प्रकार की सृष्टि को तथा एक मूल उपादान ब्रह्म जिससे यह द्विविध सृष्टि होती है, मिला कर आत्मा— १ ब्रह्म २ देव ३ भूत इस तरह ३ प्रकार का हो जाता है—क्षेत्रज्ञ, अन्तरात्मा व भूतात्मा । इनमें क्षेत्रज्ञ ही अन्तरतमात्मा कहलाता है। क्योंकि वह सबकी अपेक्षा अन्दर है और भूतात्मा बाह्यात्मा कहलाता है क्योंकि वह सर्वापेक्षया बहिर्भूत है । त्रिविध परिस्थिति-

मूलक इन्ही तीनो आत्माओ का निरूपण भगवान् मनु ने निम्न प्रकार से किया है—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञ प्रचक्षते ॥
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्य· सहज. सर्वदेहिनाम् ॥
येन वेद्यते सर्वं सुख दु ख च जन्मसु ।
तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ॥
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥

मनु. अ. १२।१२।१४

इनमें प्रवर्तक विशुद्ध सौर आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है। कर्म करने वाला आत्मा भूतात्मा (बाह्यात्मा) तथा सुख-दु खवेदयिता चान्द्र महानात्मा जीव व अन्तरात्मा कहलाता है। इस तरह त्रिविध परिस्थितियो की अपेक्षा से आत्मा के उपर्युक्त तीन भेद होते है। किन्तु उपर्युक्त ब्रह्मादि परिस्थितियों के भेद से त्रिधा विभक्त आत्मा के फिर निकाय (आयतन) भेद से अनेक भेद हो जाते है। जैसे ब्रह्म-परिस्थितिमूलक क्षेत्रज्ञ आत्मा ही आयतन भेद से चार प्रकार का बन जाता है। परात्पर १ अव्यय २ अक्षर ३ व क्षर ४। इनमे शुद्ध रसबलघन, अनन्त, विश्व का अधिष्ठान, भूमा व विश्वातीत आत्मा परात्पर कहलाता है और मायाबल से सीमित होकर पुरवासी होने से जो पुरुष कहलाता है यह आत्मा अव्यय, अक्षर व क्षर भेद से ३ प्रकार का है। एक होते हुए भी ३ भावो को लेकर जो कि सृष्टि के लिये आवश्यक है यह पुरुष त्रिधा विभक्त हो जाता है। अव्यय सृष्टि का आलम्बन व आधार है। अक्षर निमित्त कारण है तथा क्षर परिणामी उपादान-कारण है। सृष्टि में इन तीनो भावो की आवश्यकता होती है। वस्तु के निर्माण करने के लिए आधार अधिष्ठान की आवश्यकता होती है तथा उसके निर्माण करने वाले चेतन कारण की और उस वस्तु के घटक उपादान कारण की। इस तरह त्रिभावापन्न यह चैतन्य ही सृष्टि का सर्वविध कारण बनता है। इसलिये वेदान्त सिद्धान्त में इस त्रिभावापन्न ब्रह्म को ही सृष्टि का कारण बतलाया है। महिम्नः स्तोत्र में भी सृष्टि के लिये आवश्यक इन तीनो भावों का निम्नाकित श्लोक मे निर्देश किया है। जैसे—

किमीहृ किंकाय स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्।
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।

तीन भावो से त्रिधा विभक्त इन तीनों पुरुषो का निरूपण भगवान् ने भी गीता मे भी किया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।।
क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तम. पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत ।।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वर. ।।

वस्तुत: यह त्रिपुरुषात्मक एक ही पुरुष है। इन तीनो पुरुषो में जैसा कि पहिले कहा जा चुका है अव्यय केवल अधिष्ठानमात्र है व साक्षी है। वह अक्षर पुरुष से अविनाभूत होने के कारण ही कर्ता कहलाता है वस्तुत· वह अकर्ता है। इसीलिये—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्यय ।।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।
गीता १३ अध्याय

तस्य कर्तारमपि मा विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।
गीता ४ अध्याय

मे अव्यय को अकर्ता व निर्लिप्त बतलाया है। अक्षर सारी सृष्टि का उत्पादक निमित्त कारण, नियामक व अन्तर्यामी है। वह यद्यपि कर्ता है तथापि उसमें किसी भी प्रकार का विकार नही होता, और क्षर पुरुष जगत् रूप मे परिणत होता है। वह विकारी है। इस तरह अन्तरतमात्मा क्षेत्रज्ञ के आयतन भेद से चार भेद हो जाते है।

देवपरिस्थिति से अवच्छिन्न आत्मा अन्तरात्मा व सहज आत्मा कहलाता है। और देव परिस्थिति पञ्च निकाय वाली है, अत: इससे अवच्छिन्न अन्तरात्मा भी अव्यक्त, महान्, विज्ञान, (बुद्धि) मन (प्रज्ञान) व प्राण भेद से पाच प्रकार का है। इन पाचो का अधिदैवत मे विद्यमान स्वयभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र व पृथ्वी लोक से सम्बन्ध है। इन पाचो आधिदैविक प्रजापति के अवतारो से या लोको से पृथक्-पृथक्, प्राण हमारे शरीर में आकर प्रतिष्ठित होते है जिनकी क्रमश: अव्यक्तादि उपर्युक्त संज्ञाये होती है। अव्यक्तात्मा ही शान्तात्मा कहलाता है। इस शान्तात्मा के द्वारा सूर्यलोक से

ऊर्ध्ववर्ती ऋषि, पितर, देव व मनुष्य प्राण, जो कि अमृतप्राण कहलाते है, हमारे शरीर मे आते है । इन्ही प्राणों का भगवान् मनु ने—

ऋषिभ्य. पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः ।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चर स्थाण्वनुपूर्वश ।।

इस पद्य में निरूपण किया हैं ।

महानात्मा सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों का प्रवर्तक है। विज्ञानात्मा—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन ४ विद्याबुद्धियो तथा अधर्म, अज्ञान, अस्मिता, अनैश्वर्य इन ४ अविद्याबुद्धियो का प्रवर्तक है । प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रिय मन) पञ्च ज्ञानेन्द्रियो तथा पञ्च कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक हैं तथा प्राणात्मा (मुख्य प्राण) प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा व भूतमात्रा का प्रवर्तक माना गया है। इन पांचो देवताओं का निरूपण कठोपनिषद् के निम्न मन्त्र में किया गया है—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।

ये ही पाचों देवात्मा हमारे शरीर में क्रमश. अव्यक्त, महान् बुद्धि, मन (प्रज्ञान) व इन्द्रिय सज्ञा से भी व्यवहृत होते है । इनका निरूपण भी कठोपनिषद् में स्पष्ट किया है । जैसे—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धि बुद्धेरात्मा महान् परः ।।
महत. परमव्यक्त अव्यक्तात् पुरुष परः ।
पुरुषान्न पर किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति. ।।

ये पाचो प्राण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हमारे शरीर में अमृतात्मा पुरुष के अवतारभूत स्वयभू आदि लोकों से आते हैं और वे लोक परस्पर अधरोत्तर क्रम से व्यवस्थित हैं । उसी आधार पर उपर्युक्त श्रुति में पाचों प्राणों का, परस्पर श्रेष्ठत्व को लेकर, अधरोत्तर भाव से निरूपण किया है । और उसके आगे उस पुरुष की सत्ता वतलाई गई है जो कि अधिदैवत की तरह हमारे शरीर मे प्रतिष्ठित है ।

३. भूतपरिस्थित्यवच्छिन्न आत्मा ५ प्रकार का है। चूकि भूत परिस्थिति आत्मा व देव दोनो परिस्थितियों की अपेक्षा

वहिर्भूत है इसलिए भूतपरिस्थितिरूप उपाधिवाला आत्मा भी वाह्यात्मा कहलाता है। इन ५ आत्माओ मे सर्वापेक्षया वहिर्भूत शरीरात्मा है। अग्निरूप प्रजापति मर्त्य अमृत भेद से दो प्रकार का है। मर्त्य को चित्याग्नि व चित्य पृथिवी कहते हैं। यह दरीदृश्यमान पृथिवी, चित्याग्नि, चित्य पृथिवी अथवा मर्त्याग्नि है। इसी चित्य मर्त्याग्नि मे जव चित्य (मर्त्य) भूताग्नि की आहुति होती है तव इस शरीरात्मा की निष्पत्ति होती है। अर्थात् मर्त्य पृथिवी (अग्नि) मे मर्त्य, अन्नादि व शुक्रादि की आहुति से शरीर वनता है। यह शरीर ही सर्ववहिर्भूत भूतात्मा है।

२ हसात्मा—इसी मर्त्याग्नि (चित्याग्नि) में चित् व वायु की आहुति से वायुमय हसात्मा की निष्पत्ति होती है। यह हंसात्मा पृथिवी से ऊपर और चन्द्रमा से नीचे दोनो के वीच यथेच्छ रूप से वायु मे विचरता रहता है।

इस हसात्मा का पृथिवी से कोई सम्पर्क नही रहता। यह कभी सोता नही है। किन्तु सोते हुए पुरुष के शरीर की रक्षा करता है। इस हसात्मा का निरूपण श्रुति मे निम्नलिखित रूप से मिलता है—

स्वप्नेन शारीरमाभिप्रहत्यासुप्त सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थान हिरण्मय पूरुष एकहस ॥
प्राणेन रक्षन्नवर कुलाय, वहि कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयते अमृतो यत्र काम, हिरण्मय पूरुष एकहस. ॥

अर्थात्—यह हसात्मा जीवित दशा मे भी शरीर से बाहर जाकर यथेच्छ विहार करता हुआ अपनी अभीष्ट वस्तु ग्रहण कर फिर शरीर मे आ जाता है। किन्तु यह अपने शरीर से कभी भी पृथक् नही होता। क्योकि शरीर से वाहर जाने पर भी वह सौम्य प्राणसूत्र द्वारा शरीर से वधा हुआ रहता है। जैसे सूत्र से वंधा हुआ पक्षी सव जगह घूमकर फिर अपने स्थान पर आ जाता है वही गति हसात्मा की है।

मरने के वाद इसका यह कुलाय नष्ट हो जाता है अत. वह अपना नवीन कुलाय (शरीर) निर्माण करता है। मरने के वाद भी वह कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप में आ जाता है, और वातचीत भी करता

है। भगवान् वेदव्यास ने महाभारत युद्ध के बाद मृत पुरुषों के हंसात्मा का गान्धारी आदि को दर्शन करवाया था। यह कभी सोता नही है। किन्तु सुप्त शरीरात्मा की रक्षा करता है।

३ दिव्यात्मा—यह पुन. तीन प्रकार का है। १. वैश्वानर, २ तैजस व ३ प्राज्ञ।

१ वैश्वानर—भूलोक की मर्त्याग्नि मे अमृत चैतन्य तथा द्युलोक की अग्नि की आहुति से इसका स्वरूप निष्पन्न होता है।

२ तैजस—मर्त्याग्नि वायु (आन्तरिक्ष्य) मे अमृत चैतन्य की आहुति से तैजसात्मा की स्वरूपनिष्पत्ति होती है।

३ प्राज्ञ—मर्त्याग्नि इन्द्र अर्थात् द्युलोकाग्नि मे अमृत चैतन्य की आहुति से प्राज्ञ का स्वरूप बनता है।

वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ इनमें समान रूप से अमृत चैतन्य के सम्पर्क का होने पर भी भूत-मात्राओ के न्यूनाधिकतारतम्य से चैतन्य का समान रूप से विकास नही होने पाता। अत इनमे अन्तर पड़ जाता है। वैश्वानर मे भूतमात्रा के अत्यधिक सम्पर्क से चैतन्य का अतिन्यून विकास होता है अत भूतमात्राप्रधान प्राणी असज्ञ कहलाते है। जैसे स्थावर, लोष्ट आदि।

तैजस प्राणियो मे भूतमात्रा के न्यून सम्पर्क से चैतन्य का कुछ अधिक आविर्भाव होता है। अत. वे अन्त सज्ञ कहलाते है। जैसे वृक्ष आदि।

प्राज्ञात्मविशिष्ट प्राणियों में भूतमात्रा के अति न्यून सम्पर्क से चैतन्य का अत्यधिक विकास होता है। अत वे ससज्ञ कहलाते है। जैसे मनुष्य आदि।

इनमें तृतीय प्राज्ञ आत्मा पुन कर्मात्मा (यज्ञात्मा), चिदाभास व चिदात्मरूप से तीन प्रकार का है।

१. कर्मात्मा—प्राणो की स्थिति के लिए कर्म की आवश्यकता है। कर्म के विना मन, श्रोत्र चक्षु आदि प्राणो की स्थिति नही हो सकती, इसी रहस्य का निरूपण "अकृत्स्न वै कर्म ऋते प्राणेभ्य.। अकृत्स्ना उ वै प्राणा ऋते कर्मण· तस्मात् कर्माग्निमसृजत, आविस्तरा वा अग्नि कर्मण" इत्यादि शतपथ-श्रुति में किया गया है। इस कर्माग्निरूप प्रजापति में पुण्य-पाप-कर्मजन्य सस्कार रहते हैं

जिनका कि भोग के विना नाश नही होता। यही सस्कारमय ईश्वरजन्य जीव कर्मात्मा कहलाता है। इसी कर्मात्मा का निरूपण निम्न शतपथश्रुति मे किया गया है—

'आसीदिव वा इदमग्रे नैवासीत् तद्धैतन्मन एवास। तन्मनो वाचमसृजत। सा वाक् प्राणमसृजत। स प्राणश्चक्षुरसृजत। तच्चक्षु श्रोत्रमसृजत। तच्छ्रोत्र कर्मासृजत। अकृत्स्न वै कर्म ऋते प्राणेभ्य। अकृत्स्ना उ वै प्राणा[1] ऋते कर्मण। तत्कर्माग्निमसृजत। आविस्तरां वा अग्नि कर्मण। अय वाव लोको एषोऽग्निश्चित। तस्याप परिश्रित। अन्तरिक्ष ह त्वेवैषोऽग्निश्चित। द्यावापृथिव्यो सन्धि. परिश्रित। द्यौर्ह त्वेवैषोऽग्निश्चित। तस्याप परिश्रित। आदित्यो ह त्वेवैषोऽग्निश्चित। तस्य दिश. परिश्रित। शत १/४/१

अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व सदसद्रूप मन ही था। उस मन ने वाक् को उत्पन्न किया। वाक् ने प्राण को उत्पन्न किया। प्राण ने चक्षु को। चक्षु ने श्रोत्र को। श्रोत्र ने कर्म को। प्राणो के विना कर्म अकृत्स्न (अपूर्ण) है तथा कर्म के विना प्राण अकृत्स्न (अपूर्ण) है। कर्म ने अग्नि को उत्पन्न किया। अग्नि कर्म की अपेक्षा अधिक प्रकट-रूप है। यह पृथिवीलोक चित अग्नि ही है। जल (अर्णवसमुद्रस्थ जल) उसका परिश्रित् (घेरा) है। अन्तरिक्ष लोक भी चित अग्नि ही है। द्युलोक तथा पृथिवीलोक की सन्धि इसका परिश्रित् है। द्युलोक भी चित अग्नि ही है। उसके सूर्यलोक के ऊपर विद्यमान पार-मेष्ठ्य जल परिश्रित् है। आदित्य (सूर्यपिण्ड) भी यह चित अग्नि ही है। उसकी दिशाये परिश्रित् है।

यह अग्नि ही कर्मात्मा है। यह उत्पद्यमान कर्मात्मा अमृत, मृत्यु भेद से दो प्रकार का है। जैसा कि शतपथश्रुति वतला रही है—

प्रजापति. प्रजा असृजत। स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत। येऽवाञ्चः प्राणास्तेभ्यो मर्त्या प्रजा। अथोर्ध्वमेव मृत्यु प्रजाभ्योऽत्तारमसृजत (सवत्सरम्) तस्य ह प्रजापतेरर्द्धमेव मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्। तदेता अस्य ताः पञ्च मर्त्यास्तन्व आसन्— लोम, त्वक्, मासम्, अस्थि, मज्जा। अथैता अमृता -मनो, वाक्.

---

१. यहाँ प्राणपद से चक्षु श्रोत्रादि का ग्रहण है।

प्राणश्चक्षु, श्रोत्रम् । उभय ह वै तदग्रे प्रजापतिरास-मर्त्यं चैवामृतश्च । तस्य प्राणा एवामृता आसु. । इति शत १०/१/४)

अर्थात् प्रजापति ने प्रजाओ को उत्पन्न किया। उसने ऊर्ध्व-प्राणो से देवताओ को उत्पन्न किया तथा अवाक् (निम्न) प्राणो से मर्त्य प्रजा को। उसने ऊर्ध्व सवत्सर को प्रजाओ के भक्षक मृत्युरूप से उत्पन्न किया। यह प्रजाभक्षक मृत्यु सवत्सर ही है। इस प्रजा-पति का आधा भाग मर्त्य तथा आधा भाग अमृत है। इस प्रजापति का मर्त्य शरीर-लोम, त्वक्, मास, अस्थि मज्जा है तथा अमृत शरीर मन, प्राण, वाक्, श्रोत्र, चक्षु है। सृष्टि से पूर्व यह प्रजापति मर्त्य-अमृत भेद से उभयरूप था। प्राण ही उसके अमृतस्वरूप थे।

इसी पुरुषरूप अग्नि मे पुण्य-पाप कर्मो से उत्पन्न होने वाले सस्कार कर्मसज्ञक हैं और वे विना भोग के नष्ट नही होते।[१] वे पुरुष में सञ्चित रहते है। इसलिए कहा गया है कि प्रारब्ध कर्मो का भोग से ही क्षय होता है। विना भोग के वे करोडों कल्पों में भी नष्ट नही होते।[२] इस प्रकार प्रारब्ध कर्म का तो भोग से ही क्षय होता है किन्तु सञ्चित कर्मो का ज्ञान से सर्वथा नाश तथा आगामी कर्मो का असश्लेप हो जाता है। इसलिए गीता मे कहा है—

"यथैधासि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।। इति ।।

अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठो को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सञ्चित तथा आगामी सभी कर्मो को नष्ट कर देती है।

उपर्युक्त कर्मो (प्रारब्ध, सञ्चित तथा भावी) के नष्ट हो जाने पर अग्निप्रजापतिरूप जीवात्मा मुक्त हो जाता है।

अर्थात् जिस प्रकार प्रतिबिम्बकारणभूत दर्पणादि उपाधि के नष्ट हो जाने पर सूर्यप्रतिविम्ब व्यापक सूर्यज्योति में मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार प्रतिबिम्बकारणभूत क्षेत्र के नष्ट हो

---

१ नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

२. प्रारब्धकर्मणा भोगादेव क्षय ।

जाने पर ईश्वरप्रतिबिम्बरूप जीवात्मा व्यापक ईश्वर पुरुष मे मिलकर एक हो जाता है, जैसा कि श्रुति बतला रही है—

"गता कला पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ।।"

अर्थात् जीव की पन्द्रह कलाएँ ईश्वर की पन्द्रह कलाओं मे प्रतिष्ठित हो जाती है। जीव के चक्षुरादि प्राण-देवता भी ईश्वर के प्राणादि मे विलीन हो जाते हैं। कर्म तथा विज्ञानमय आत्मा सभी पराव्यय अर्थात् ईश्वराव्यय मे मिलकर एक हो जाते है। तात्पर्य यह है कि जीवाव्ययगत अमृतधर्म ईश्वराव्ययगत अमृतधर्म मे विलीन हो जाते है। इस प्रकार यह जीवात्मा मृत्युसज्ञक सवत्सराग्नि से उत्पन्न मृत्युधर्म के नाश होने पर जीवत्वरूप से विमुक्त होकर केवल अमृतरूप बनता हुआ नित्यामृतस्वरूप उस ईश्वर मे विलीन हो जाता है।

२. **चिदाभास**—इस जीव मे सर्वत्र व्यापक ईश्वर का सम्बन्ध होता है। वह दो प्रकार का है। एक अन्तर्याम व दूसरा वहिर्याम। जैसे जल को द्रुत करने वाले वारुण अग्नि का जल से अन्तर्याम सम्बन्ध है क्योकि वह जल का स्वरूपधर्म वन गया है और जल का स्वरूप निर्माण करने के वाद तप्त जल में जो अग्नि का सम्बन्ध है वह वहिर्याम है। वहाँ ताप केवल जल का आगन्तुक आश्रित धर्म है न कि स्वरूप धर्म। इन्ही दोनों सम्बन्धो को क्रमश. योग और विभूति पद से गीता मे व्यवहृत किया गया है। चिदात्मा ईश्वर का जो भाग शरीर मे आकर हृदयप्रदेशस्थ विज्ञानात्मा से सम्पृक्त होकर ईश्वर से प्रवृक्त हो जाता है और शरीर व प्राणादि के धर्मों से सयुक्त होता है, वह चिदाभास कहलाता है। यह शरीरभेद से भिन्न हो जाता है, अत. नाना है। यही साख्यसम्मत पुरुष है।

३. **चिदात्मा**—चिदात्मा ईश्वर का वह भाग है जो कि सर्वव्यापक सूर्यरश्मियो की तरह सारे विश्व में व्याप्त होता हुआ शरीर मे भी व्याप्त रहता है। जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश घट मे भी रहता है किन्तु घट से उसका कोई वास्तविक सम्पर्क नही होता और न घट के धर्मो से वह सम्पृक्त ही होता है फिर भी वह आकाश घट से निचाय्य (ज्ञेय) होता है और वह घटाकाश शब्द से व्यवहृत होता है। उसी प्रकार ईश्वर का विश्वव्याप्त विभूतिरूप मे

वर्तमान चिद्भाग शरीर में रहता हुआ भी शरीर के धर्मों से सपृक्त नही होता फिर भी शारीरक कहलाता है। यह सब शरीरो में समान है अत एक है। यही इस शरीर मे ईश्वर व परपुरुष कहलाता है जिसका निरूपण गीता मे निम्न श्लोक मे किया गया है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष. पर. ।।इति।।

इनमे भी यह अन्तिम चिदात्मा शरीर मे कही विभूतिरूप से कही श्रीस्वरूप से और कही ऊर्क् रूप से प्रतिष्ठित है। ब्रह्म, क्षत्र, विट् (विभूति, ऊर्क्, श्री) ये तीन वीर्य मनुष्य में होते है। इन्ही तीनो की प्रधानता से ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ये भेद बने है। चिदात्मा के इन्ही तीनो स्वरूपो का वर्णन गीता में—

यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोऽशसभवम् ।। इति ।। १०/४१

इस पद्य में किया गया है। इस तरह एक ही आत्मा ब्रह्मपरिस्थिति, देवपरिस्थिति व भूत-परिस्थिति के भेद से ३ प्रकार का तथा उनके अवान्तर भेदो से विभक्त होकर १८ प्रकार का हो जाता है। इनमें ब्रह्मपरिस्थिति से उपहित आत्मा जिसे क्षेत्रज्ञ कहा गया है, अमृतात्मा है एव देवपरिस्थिति से उपहित आत्मा जिसे अन्तरात्मा शब्द से व्यवहृत किया गया है ब्रह्मात्मा है तथा भूतपरिस्थिति वाला जिसे भूतात्मा कहा गया है शुक्रियात्मा शब्द से भी व्यवहृत होता है। इन १८ आत्माओ की तालिका निम्नलिखित है—

१ अमृतात्मा (क्षेत्रज्ञ)	१. परात्पर पुरुप
	२. अव्यय
	३. अक्षर
	४. क्षर
२. ब्रह्मात्मा (अन्तरात्मा)	१ शान्तात्मा (अव्यक्तात्मा)
	२. महानात्मा
	३ विज्ञानात्मा
	४ प्रज्ञानात्मा
	५. प्राणात्मा

३ शुक्रियात्मा (भूतात्मा)
१ शरीरात्मा (भूतमय) अर्थात् (चित्याग्निमय)
२. हंसात्मा (वायुमय)
३. दिव्यात्मा = वैश्वानर अग्नि
४. तैजस वायु
५. प्राज्ञ इन्द्र = कर्मात्मा (यज्ञात्मा)
६ चिदाभास
७ चिदात्मा = विभूति-लक्षण
८ ,, श्रीलक्षण
९ ,, ऊर्क् लक्षण

१८

इनमे भूतपरिस्थिति वाले ९ आत्माओ को प्रकारान्तर मे ३ भागो मे विभक्त किया जा सकता है—१ अमृतमय, २ अमृतमृत्युमय ३ मृत्युमय ।

जिन मे विभूतिमान्, श्रीमान् तथा ऊर्जित ये तीन आत्मा अमृतमय है । आत्मा के विश्वप्रविष्ट होने से इनमे भी मृत्यु का सम्पर्क है पर अत्यल्प है । अत. इन्हे अमृत भाग के प्राचुर्य से अमृत-मय माना गया है ।

चिदात्मा, चिदाभास तथा यज्ञात्मा ये तीन अमृतमृत्युमय है । तथा दैवात्मा, हंसात्मा शरीरात्मा मृत्युभाग के प्राचुर्य से मृत्युमय कहलाते है ।

उपर्युक्त रीति से आत्मा १८ प्रकार का हो जाता है । इसी-लिये इसके निरूपण करने वाले सभी शास्त्र १८ भागो मे विभक्त है । इसी रहस्य का निरूपण करने के लिये भगवान् वेदव्यास ने गीता, पुराण, महाभारत आदि सभी मे १८ विभाग रखे है ।

किन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आत्मा १८ प्रकार का है और उसके प्रतिपादक ग्रन्थो मे भगवान् वेदव्यास ने १८ खण्ड रखे है तो उसी आत्मतत्व के प्रतिपादक ब्रह्मसूत्रो मे १६ पाद ही

कैसे रखे ? इसका रहस्य यही है कि यहाँ भगवान् व्यास ने जीवात्मा की षोडशकलाओ का निरूपण किया है। जैसे—जीव प्रजापति अनिरुक्त, निरुक्त भेद से दो प्रकार का है। अनिरुक्त असीम है और उसकी परात्पर सज्ञा है। और निरुक्त ससीम है, वह पुरुष कहलाता है। पुरुष—अव्यय, अक्षर, क्षर भेद से तीन प्रकार का है। इनमे तीनो पुरुष पाच पाच कला वाले है। अत. पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर व परात्पर इनको मिलाने से १६ कलाये हो जाती है। जैसे—

१	परात्पर	
२	अव्यय	१ आनन्द
		२ विज्ञान
		३ मन
		४ प्राण
		५ वाक्
३	अक्षर	१ ब्रह्मा
		२ विष्णु
		३ इन्द्र
		४ अग्नि
		५ सोम
४	क्षर	१ प्राण
		२ आप
		३ वाक्
		४ अन्न
		५ अन्नाद

यही षोडशी पुरुष भी कहलाता है। इसी षोडशी पुरुष का निरूपण ब्रह्ममीमासाशास्त्र मे किया गया है। अत इसमे षोडशपाद-रूप १६ प्रकरण ही है।

उपर्युक्त वैदिककल्प, वेदव्यासीय कल्प, लोमहर्षणीय कल्प तथा औग्रश्रवस कल्प, इन चारो कल्पों मे वेदव्यासीय कल्प काण्ड-चतुष्टयात्मक है। अत उन चारो काण्डो का निरूपण आगे क्रमश. किया जायगा :—

काण्डचतुष्टयात्मक वेदव्यासीय-कल्प-नामक द्वितीयकल्प

द्वापर युग मे कृष्णद्वैपायनापरपर्याय वेदव्यास ने वेदो का पाच सहिताओ मे विभाग कर उसका प्रचार किया। वे पाच सहिताएँ—(१) ऋक्सहिता, (२) यजु सहिता, (३) सामसहिता, (४) अथर्वसहिता और (५) पुराणसहिता है। एक ही वेदग्रन्थ के विषयविभाग करने की इच्छा से वेदव्यास ने वहुत पहिले प्रादुर्भूत पद्यमय मन्त्रो का सग्रह कर ऋक्सहिता का, गद्यमय मन्त्रो का सग्रह कर यजु सहिता का तथा गेय मन्त्रो का सग्रह कर साममहिता का निर्माण किया। अथवा एक ही वेदरूप महाग्रन्थ के अध्ययन अध्यापनादि मे अत्यन्त श्रम तथा दुष्करता का विचार कर भगवान् वेदव्यास ने सरलता से यज्ञानुष्ठान के लिए होता के द्वारा पठनीय मन्त्रों का, अध्वर्यु के द्वारा पठनीय मन्त्रो का और उद्गाता के द्वारा पठनीय मन्त्रो का पृथक्-पृथक् सग्रह कर क्रमग ऋक्सहितादि तीन सहिताएँ वनायी।

यज्ञ पाकयज्ञ और वितानयज्ञ भेद से दो प्रकार का है। विना अग्नि के होने वाली अथवा एक अग्नि द्वारा सम्पन्न होने वाली क्रियाए पाकयज्ञ है। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि या धिष्ण्याग्नि तथा आहवनीय इन तीनो अग्नियो से निष्पन्न होने वाली क्रियाएँ वितानयज्ञ हैं। वितानयज्ञोपयोगी सभी मन्त्रो का सग्रह कर प्रथम ऋगादि तीन सहिताओ का निर्माण किया। पाकयज्ञोपयोगी मन्त्रो का अथवा जिनका वितानयज्ञ मे विनियोग नही है, ऐसे मन्त्रो का संग्रह कर चौथी अथर्वसहिता का निर्माण किया। अथर्वा आङ्गिरसगोत्रीय तथा चातुर्विद्य होता है। "ऋक् मन्त्रो द्वारा हौत्र (होता के द्वारा निष्पाद्य) कर्म होता है। यजुर्मन्त्रो के द्वारा आध्वर्यव (अध्वर्यु द्वारा निष्पाद्य) कर्म तथा साम मन्त्रो के द्वारा औद्गात्र (उद्गाता द्वारा निष्पाद्य) कर्म होता है। व्रह्मत्व किसके द्वारा होता है ? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि त्रयीविद्या के द्वारा।"

जैसा कि "ऋचा हौत्र क्रियते। यजुषाऽऽध्वर्यव, साम्नोद्गात्रम्, अथ केन व्रह्मत्व क्रियते—त्रय्या विद्यया इति व्रूयात्" इस श्रुति के द्वारा सिद्ध हो रहा है। ऋत्विजो मे चातुर्विद्य अथर्वा व्रह्मा

कहलाता है। इसीलिए इस चतुर्थ अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहते हैं। इस प्रकार यज्ञोपयोगी नित्यमन्त्रो से चार वेदसहिताओ का निर्माण कर उनसे अवशिष्ट, मन्त्रातिरिक्त इतिहासप्रकरणो से पाँचवी पुराण-सहिता का व्यासजी ने निर्माण किया।

इन पाचों सहिताओ का लोक मे प्रचार करने के लिए उन्होने पाच शिष्य बनाये। उन्होने पैल नामक शिष्य को ऋक्सहिता का, वैशम्पायन को यजु सहिता का, जैमिनि को सामसहिता का, सुमन्तु को अथर्वसहिता का तथा लोमहर्षण को पुराणसहिता का अध्यापन कराया। उनमे यह पुराणसहिता जो कि सृष्टिभेद से १८ भागों मे विभक्त थी, जिसका कि वेदव्यास ने निर्माण किया था, कालप्रभाव से विलुप्त हो गयी और वह अब नही मिलती। किन्तु वेदव्यासीय पुराणसहिता के आधार से लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा के द्वारा प्रणीत १८ पुराण ग्रन्थ इस समय लोक मे प्रचलित है। पौराणिक विषयो के परिज्ञान के लिए उन्ही पुराण ग्रन्थो का यहाँ विचार किया जा रहा है। विज्ञानभेद से पाच भागो मे विभाजित इन १८ पुराण-ग्रन्थो के पाच अनुबन्ध निम्नलिखित है—

(१) पुराणसज्ञान, (२) ग्रन्थश्लोकसख्यान, (३) कल्पभेद, (४) सवाद के वक्ता और श्रोता और (५) पौराणिक रहस्य।

१८ महापुराणो मे प्रतिपादित पुराण के अनुबन्धो का पुराणवचनानुसार ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। मत्स्यपुराण के ५३ वे अध्याय में पुराणक्रम तथा उनके अनुबन्ध इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २५, २६ पर बतलाये गये है।

काण्डचतुष्टयात्मक वेदव्यासीय कल्प का प्रथम काण्ड

१. ब्रह्मपुराण

"ब्रह्मा देवाना प्रथम सबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
(मुण्डक)

अर्थात् देवताओ मे सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, जिसने कि विश्व का निर्माण किया तथा उसकी रक्षा की। उस ब्रह्मा ने सब विद्याओ की प्रतिष्ठाभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश अपने ज्येष्ठपुत्र

अष्टादशमहापुराणप्रतिपत्तिः पुराणानुबन्धाश्च पुराणवचनानुसारेणैव तावत् प्रदर्श्यन्ते।
तथा हि मत्स्यपुराणस्य त्रिपञ्चाशत्तमे [५३] अध्याये प्रोक्तः पुराणक्रमो यथा—

विभागः		पुराणनामानि	ग्रन्थश्लोकप्रमाणम्	वृत्तसम्बन्धी कल्प	संवादे वक्ता	संवादे श्रोता	पौराणिकरहस्यम्
१. अत्र प्रथमोऽयं विभागः (६) षडवयवः १-६	१	ब्राह्मम् भौमम्	१३०००		ब्रह्मा	मरीचिः	भूविवर्ता गर्भेऽमृतप्राण भ्रुवद्वयस्पर्शी
	२	पाद्मम् भौमम्	५५०००	पाद्मकल्प			मर्त्याग्निमय पृथिवीपिण्डः एमूषवराहनाभिस्थ
	३	वैष्णव भौमम्	२३०००	वाराहकल्पः	पराशरः		स्तम्भनवायुवेष्टन एमूष-वराहलक्षणो यज्ञ.
	४.	वायवीय दिव्यम्	२४०००	श्वेतकल्प	वायु		सौरहिरण्मयाकाशस्थ शिववायुहसवायुसमुद्र
	५	भागवत दिव्यम्	१८०००	सारस्वतकल्प			आप पारमेष्ठ्यहसस्था. २२-३३द्वादशस्तोम.सरस्वान्
	६.	नारदीय दिव्यम्	२५०००	बृहत्कल्प			आर्पेय स्वायम्भुव सर्वो भावः अष्टाचत्वारिंशस्तोमान्त
२. द्वितीयो विभागः (४) चतुरवयवः ७-१०	७.	मार्कण्डेयम्	९०००		मार्कण्डेय	शकुनय	त्रिगुणाव्यक्तप्रधानकर्तृका सृष्टि १
	८.	आग्नेयम्	१६०००	ईशानकल्प	अग्नि	वसिष्ठ	अग्निमूला सृष्टि २
	९	भविष्यम्	१४५००	अघोरकल्प.	ब्रह्मा	मनु	सूर्यमूला सृष्टि ३

३. तृतीयो विभागः (ख) षड्वयवः ११-१६	१०	ब्रह्मवैवर्तम्	१८०००	रथन्तरकल्पः	सावर्णिः	नारद	ब्रह्मविवर्तरूपा मिथ्या सृष्टि ४
	११	लैङ्गम्	११०००	अनन्तकल्पः	शिव		
	१२	वाराहम्	२४०००	मानवकल्प.	विष्णु	पृथिवी	
	१३	स्कान्दम्	८११००	तत्पुरुपकल्पः	स्कन्द		
	१४	वामनम्	१००००	कूर्मकल्प	ब्रह्मा		
	१५	कौर्मम्	१८०००	लक्ष्मीकल्प·	कूर्म·	ऋषभ	
	१६	मात्स्यम्	१४०००	आदिकल्पः	विष्णु·	मनु·	
चतुर्थो विभाग	१७	गारुडम्	१८०००	गारुडकल्पः	कृष्ण	गरुडोद्भव	
पञ्चमो विभाग	१८	ब्रह्माण्डम्	१२२००	भविष्यकल्प·	ब्रह्मा		

गारुडे तु पूर्वखण्डे २२३ अध्याये पुराणानामन्यथाक्रमो निरूप्यते तत् पुराणवैज्ञानिकभावप्रदर्शनापेक्षया द्रष्टव्यम्। वस्तुतस्तु मात्स्योक्तक्रम एव साधीयान् विज्ञायते।

अथ मात्स्ये १२२ अध्याये-भूमेर्दशगुणा आपः समन्ताद् भूमिं वेष्टयन्ति। ततो दशगुणोऽग्नि। ततो दशगुणो वायु। ततो दशगुण व्योम। ततो दशगुण भूतादि। ततो दशगुण महत्। तदनन्तेनाव्यक्तेन समन्तात् परिवेष्टितम्। सोऽयमित्थ पृथिव्या. सनिवेश। उक्त हि-वेष्टयन्ति पृथिवी परित सप्त सिन्धव। १. लवण २. इक्षु ३. सुरा ४. सर्पि ५. दधि ६. क्षीरोदकक्रमात्। क्षार — मधु-मादकम् दधि-घृतम्-क्षीर-जलम्। १. लवणम्, २. मिष्टरसः, ३ मद्यम्, चर्वी, ५. अम्लरसः ६. दुग्धम्, ७ अशुद्धोदकम्।

अथर्वा को किया। इस मन्त्र के प्रामाण्य से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा सबसे पहिले प्रादुर्भूत हुआ। इसी ब्रह्मा ने वेदसृष्टि, लोकसृष्टि प्रजासृष्टि तथा धर्मसृष्टि भेद से चार प्रकार की सृष्टि उत्पन्न की।

इस पुरुष प्रजापति ने कामना की थी कि मैं बहुत बनूं, अपने आपको उत्पन्न करूँ—इस दृष्टि से श्रम और तप करते हुए ब्रह्मा ने सर्वप्रथम त्रयीविद्या (ऋक्, यजु., साम) को उत्पन्न किया। यही त्रयीविद्या सृष्टि के लिए प्रतिष्ठा बनी। इसीलिए कहा है कि ब्रह्मा इस सबकी प्रतिष्ठा है। (शत० ६।१।१।८) तदनन्तर ब्रह्मा ने सर्वप्रथम त्रयीविद्यारूप ब्रह्म को उत्पन्न किया। इसीलिए विद्वानो ने कहा है कि—"ब्रह्म सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ है।" (शत० ६।१।१।१०)॥

अन्यत्र भी श्रुतियो मे बतलाया गया है कि ऋग्, यजु, साम-रूप त्रयीविद्या ही ब्रह्म है। यही प्रतिष्ठा है। इसी प्रतिष्ठा से सारे लोक प्रतिष्ठित हुए। इन लोको मे सब प्रजाएँ प्रतिष्ठित हुई। पश्चात् वर्णभेद से प्रजाओ मे चातुर्वर्ण्य आदि धर्म उत्पन्न किए। ऋक्, यजु, साम, अथर्व ये चार वेद वेदसृष्टि है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और आपोलोक ये चार लोक लोकसृष्टि हैं। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा ये चार प्रजासृष्टि है। ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र ये चार वर्णधर्म धर्मसृष्टि है। इन चार प्रकार की सृष्टियो तथा इनसे सम्बद्ध कतिपय अन्य विषयो का भी इस ब्रह्मपुराण में निरूपण किया गया है।

२. पद्मपुराण

यह ब्रह्मा कहाँ से उत्पन्न हुआ, इस शंका का समाधान करने के लिए पद्मपुराण की प्रवृत्ति है। वह ब्रह्मा पद्मभू अर्थात् पद्म से उत्पन्न होने वाला माना गया है। इस पद्म का क्या स्वरूप है, किस प्रकार पद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई—इत्यादि विषयो का निरूपण इस द्वितीय पद्मपुराण मे है।

३. विष्णुपुराण

यह पद्म किससे प्रादुर्भूत हुआ, इस शका के समाधान रूप मे पद्म के उत्पादक का निरूपण करने के लिए तृतीय विष्णुपुराण की प्रवृत्ति हुई। विष्णु के नाभिकमल से पद्म पैदा होता है। इस तथ्य

का तथा इससे सम्बन्धित विष्णुस्वरूप का प्रतिपादन व कतिपय अन्य विषयों का निरूपण इस पुराण मे हुआ है।

४. वायुपुराण

वह विष्णु कहाँ प्रतिष्ठित है, इस तथ्य का निरूपण करने के लिए चौथे वायुपुराण की प्रवृत्ति है। वायु आकाश का भी उपलक्षक है। आकाश और वायु दोनो मिलकर यजुष् शब्द से कहे जाते हैं। क्योकि यजुष् शब्द की व्युत्पत्ति श्रुतियो में 'यच्च जूश्च' इस रूप से वतलायी गयी है। इसमे 'यत्' शब्द 'एति इति यत्' इस व्युत्पत्ति से गतिस्वभाव वाले वायुतत्त्व को बतलाता है तथा 'जू' शब्द "जूराकाशे सरस्वत्या पिशाच्या यवने स्त्रियाम्" इस कोश के अनुसार स्थितिस्वभाव वाले आकाश का बोधक है। ये आकाश और वायु दोनो सहचारी है। अतएव यहाँ दोनो का वायु शब्द से ही व्यवहार किया गया है। यह वायु आकाश की तरह अनन्त है तथा विनश्यमान सब पदार्थों के अन्त मे यह अकेला अवशिष्ट रह जाता है, इसलिए अनन्त वाय्वाकाश को यहाँ शेष पद से कहा गया है। इस अनन्त शेष पर ही विष्णु निवास करता है। इसलिए इसके आधारभूत वायु का निरूपण वायुपुराण का विषय है।

५. भागवतपुराण

इस वायु का क्या आधार है, इस बात का प्रतिपादन करने के लिए भागवतपुराण की प्रवृत्ति हुई है। अर्थात् रोदसी, क्रन्दसी, सयती भेद से त्रिलोकी तीन प्रकार की है। प्रत्येक त्रिलोकी मे एक एक समुद्र है। जिन के नाम क्रमशः अर्णव, सरस्वान् व नभस्वान् है। उनमें क्रन्दसी त्रिलोकी के समुद्र का नाम सरस्वान् है। जो कि पारमेष्ठ्य समुद्र भी कहलाता है। यही पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र अनन्त व शेष नामक वायु का आधार है। इसी पारमेष्ठ्य समुद्र का वोधन करने के लिए पारमेष्ठ्यसहितापरपर्याय भागवतपुराण की प्रवृत्ति है। इसीलिये यह पारमेष्ठ्यसहिता सारस्वत कल्प नाम से कही जाती है।

६. नारदपुराण

इस सरस्वान् समुद्र का आधार क्या है और यह कैसे उत्पन्न होता है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिए छठा नारदपुराण उप-

स्थित होता है। अप् तत्व का नाम नार है, जैसा कि—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव.' इस वचन से सिद्ध हो रहा है। नार ऋषिप्राण से उत्पन्न मरुद्गण का वाचक है अर्थात् वायुमय अप्तत्व का नाम नार है। इस अप्तत्वमय नार को जो उत्पन्न करता है, उस प्राणविशेष का नाम ही नारद है और वह प्राण नित्य है। अत· अप्-तत्व का उत्पादक नित्यप्राण ही नारद है। इसी का प्रतिपादन नारद-पुराण का विषय है। इस प्राण से उत्पन्न सरस्वान् नामक समुद्र जो कि अप्सघातमय है, परमेष्ठी कहलाता है। "आपो वा इद सर्वम्। ना यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति, यो हीहाभिखनेदपऽएवाभिविन्देत्। परमाद्वा एतत्स्थानाद्वर्षति यद्दिवस्तस्मात्परमेष्ठी नाम"। (शत ११।१।६।१६) यह श्रुति इसी तथ्य की अभिव्यक्ति कर रही है। स्वयभू से सर्वप्रथम उत्पन्न अप्सघात ही सरस्वान् समुद्र है और यही परमेष्ठी है। इसी सरस्वान् समुद्र मे यजुप् शब्दवाच्य अनन्त वाय्वा-काशरूप शेष स्थित है। वाय्वाकाशरूप इस अनन्त शेपनाग मे अनन्त सोमाहुतिरूप यज्ञ, जिसे कि विष्णु कहते है, होता रहता है। उस यज्ञ में मृत्युमय चित्य (मर्त्य) अग्निपिण्डरूप पद्म प्रादुर्भूत होता है। उसी पद्म मे अमृतप्राणाग्निरूप प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा प्रतिष्ठित है। उसी ब्रह्मा ने इस सारे ससार को उत्पन्न किया। इसी रहस्य का प्रतिपादन ब्रह्मपुराण से लेकर नारदपुराणपर्यन्त ६ पुराणो मे हुआ है। इसी विषय का उपपादन स्पष्टरूप से निम्नरूप से किया जा सकता है—

पुराणरूप सृष्टिविद्या मे सृष्टि दो प्रकार की बतलायी गयी है—मानसी तथा मैथुनी। जहाँ एक ही तत्व से प्रकृति-विकास के अनुरोध से उतरवर्ती कुछ तत्व पैदा होते है, उसे मानसी सृष्टि कहा जाता है। महान्, अहकार आदि तत्व मानसी सृष्टि मे आते है। क्योकि महदादि तत्वसृष्टि मूलप्रकृति का विकासरूप है। किन्तु जब दो पदार्थो के सम्बन्ध से उन दोनो पदार्थों का विनाश होकर किसी अभिनव पदार्थ की उत्पत्ति होती है, उसे मैथुनी सृष्टि कहते है। जैसे पीत और लाल रग के योग से उन दोनो रगो से भिन्न हरा वर्ण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार योषा तथा वृषा दो पदार्थो के योग से जो अभिनव सृष्टि होती है उसमे दो तत्वो का मिथुन सम्बन्ध होने से उसे मैथुनी सृष्टि कहा जाता है। इन दोनो सृष्टियो मे वेद-विद्या मे प्रधान तौर से मानसी सृष्टि का ही निरूपण हुआ है किन्तु

पुराणविद्या मे विशेष रूप से मैथुनी सृष्टि का प्रतिपादन है। मैथुनी-सृष्टियो के भी अनन्त होने से पृथिवीमण्डल में जितनी सृष्टियाँ होती हैं, उन्ही के निरूपण के लिए पुराणसहिता प्रवृत्त होती है।

जिस पृथिवी को हम देख रहे है, उसके आधारभूत पृथिवी-गर्भस्थ किसी अग्निविशेप का श्रुतियाँ निरूपण करती है, वह अग्नि चित्य, चितेनिधेय भेद से दो प्रकार का है। इनमे चित्य अग्नि मर्त्याग्नि है, यही भूतो का उत्पादक है और यही पृथिवीपिण्ड के आरम्भक पञ्चमहाभूतस्वरूप में परिणत होती है। इस चित्याग्नि में अग्निधर्म ताप नही है। इस चित्य या मर्त्याग्नि को पद्म कहते है किन्तु इसके गर्भ मे अर्थात् केन्द्र मे जो चितेनिधेयरूप अमृताग्नि है, वही ब्रह्मा है, वही स्वयभू है। वह अग्नि इस पिण्डपृथिवी को उत्पन्न कर उसमे प्रविष्ट होकर उसके गर्भ में निरन्तर रहता है। इस अग्नि का धर्म ताप है। किन्तु यह तापधर्मा अमृताग्नि आधारभूत पिण्ड के विना नही रहती है, अत. इसे पृथिवीपिण्डरूप पद्म मे रहने के कारण पद्मभू, पद्मयोनि और पद्मासन कहा जाता है। यह अग्नि देवताओं मे सर्वप्रथम उत्पन्न हुई, इसलिए इसे देवताओ मे ज्येष्ठ और स्वय उत्पन्न होने के कारण स्वयभू कहा जाता है। यही अग्नि असज्ञ, अन्त सज्ञ और ससज्ञरूप सम्पूर्ण प्रजासृष्टि का निर्माण करती है, इसलिए इसे 'स्रष्टा' 'वेधा' 'विधाता' 'विधि' 'विरिञ्चि' तथा 'विश्वसृट्' नाम से कहा जाता है। यही ब्रह्मपुराण का प्रतिपाद्य विषय है।

वह तत्व महद्ब्रह्मसज्ञक अक्षर है जो कि भूतभावन अपरिणामी अक्षर पुरुष से नित्य युक्त रहता है। इसी मे सकल सृष्टि का लय होने से इसे 'लय गच्छति यस्मिन् सकल जगत्' इस व्युत्पत्ति से लिङ्ग भी कहा जाता है।

तदनन्तर अमृताग्निनामक ब्रह्मा जिस चित्य मर्त्याग्नि मे प्रतिष्ठित है, उस पृथिवीपिण्ड को पद्म कहते है। पद्मपुराण मे पृथिवी को पद्मरूप वतलाया गया है, जैसा कि—"एतदेव महापद्-ममभूत् हैरण्मय जगत्"—इस वचन से स्पष्ट है। इसी मे स्थित होने से ब्रह्मा पद्मयोनि कहलाता है। पृथिवीपिण्डरूप पद्म के भूत-भौतिकसमुदायरूप होने से सर्वविध भूतभौतिक-समुदायरूप सृष्टि-प्रकार का निरूपण ही पद्मपुराण का प्रतिपाद्य है। पृथिवीपिण्ड-

निर्माण एमूषवराह वायु से होता है, अत इसे एमूषवराह की वार भी पुराणो मे कहा गया है।

यह पृथिवीरूप पद्म किस आधार से स्थित है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिए तृतीय विष्णुपुराण उपस्थित होता है। विष्णु के आधार पर ही यह पृथिवीपिण्ड स्थित है। क्योकि इस पृथिवी से चारो दिशाओ मे व्याप्त ३३ अहर्गण हैं। उन अहर्गणो मे सत्रहवें अहर्गण से लेकर पचीसवे अहर्गण तक एक नवाह यज्ञ होता है। इस यज्ञ की प्रतिष्ठा २१ वाँ अहर्गण है। उसी यज्ञ को विष्णु कहते है। यह यज्ञ त्रिवृत् (९) पञ्चदश (१५) सप्तदश (१७) एकविंश (२१) भेद से चार स्तोम वाला होने से चतुष्टोम कहलाता है। चार स्तोमो से युक्त होने के कारण ही विष्णु को चतुर्भुज कहा जाता है। वह विष्णु यह सूर्य ही है। इस सूर्य से पृथिवीपिण्ड तक एक सुषुम्णा नाडी आती है। इसे ही ब्रह्मनाल कहते है। यह ब्रह्मनाल १७ वे अहर्गण से लेकर २५ वे अहर्गण तक प्रवर्तमान नवाहात्मक यज्ञपुरुष के नाभि (केन्द्र) २१ वे अहर्गणरूप सूर्य से लेकर पृथिवी तक फैला हुआ है। पृथिवी को ही पद्म कहते है। इस पद्म की प्रतिष्ठा नवाहयज्ञरूप विष्णु की नाभि एकविंश अहर्गणरूप सूर्य है। इस प्रकार पृथिवी से लेकर सूर्यपर्यन्त तीनो लोको का निरूपण विष्णुपुराण का विषय है।

यह विष्णु चौतरफ विस्तृत समुद्र मे स्थित है। अर्थात् वह समुद्र सूर्यप्रकाशमडण्ल के चौतरफ फैला हुआ है और परमेष्ठिमण्डल से उत्पन्न होता है। इसी समुद्र का निरूपण भागवतपुराण का प्रतिपाद्य है।

यह सरस्वान् समुद्र भी इसके चौतरफ व्याप्त वेदमण्डल से परिवेष्टित है। यह वेदमण्डल स्वयभू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा इन पाच शाखाओ मे विभक्त है। इसका निरूपण वेद मे किया गया है। इन्ही पाचो मण्डलो का विपरीतक्रम से ब्रह्मादि पाच पुराणो के द्वारा निरूपण किया गया है।

अथवा पृथिवी का अग्नि ब्रह्मा है। ब्रह्माण्डरूप हिरण्यमय सौरमण्डल महापद्म है। आपोमय परमेष्ठी भगवान् विष्णु है। अनन्त वायुसमुद्र शेष है। अप्समुद्र सरस्वान् है। इन अप्तत्वो का उत्पादक ऋग्यजु सामत्रयीरूप ब्रह्मप्राण नारद ऋषि है। वाङ्मयप्राणरूप

नारद से सरस्वान् नामक अप्समुद्र की सृष्टि होती है, सरस्वान् नामक अप्समुद्र से वायुसमुद्र की सृष्टि होती है। वायुसमुद्र मे आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णुधाम है। विष्णु की नाभि (केन्द्र) मे हिरण्मयमण्डलरूप महापद्म की उत्पत्ति होती है। उसमे प्रादुर्भूत यह अमृताग्नि ब्रह्मा है, जिसकी पृथिवी प्रतिष्ठा है। यह ब्रह्मा ही पञ्चभूतमय-वेद, लोक, प्रजा तथा धर्मरूप चार प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करता है।

प्रकारान्तर से—त्रयीब्रह्ममय वाक्प्राण नारद ऋषि है। इस नारदप्राण से सरस्वान् नामक अप्समुद्र की सृष्टि होती है।

इस अप्समुद्र से वायुसमुद्र की सृष्टि होती है।

वायुसमुद्र मे पारमेष्ठ्य आपोमय विष्णुधाम है। समुद्रगर्भस्थित विष्णु की नाभि (केन्द्र) मे हिरण्मयमण्डल रूप महापद्म है।

इससे अमृताग्निमय ब्रह्मा प्रादुर्भूत होता है, जिसका शरीर पृथिवीपिण्ड है।

वह ब्रह्मा लोक, वेद, प्रजा, धर्मरूप चतुर्विध सृष्टि उत्पन्न करता है।

इस प्रकार विपरीत क्रम से ब्रह्मपुराण से लेकर नारदपुराण-पर्यन्त छह पुराणसहिताओ के द्वारा उपर्युक्त आधिदैविक तत्वो का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त ६ पुराणो द्वारा आधिदैविक सृष्टिप्रकरण का भगवान् वेदव्यास ने कथन किया।

इसी आधिदैविक सृष्टि का निरूपण 'जगद्गुरुवैभव' ग्रन्थ मे गुरुवर्य ने निम्नपद्यो में किया है —

नागराज ऋषिप्रोद्यत्पारमेष्ठ्यसमुद्रग ।
नारदर्षिप्रजनिते सरस्वत्यस्ति नागराट् ॥
अनन्ताख्यो वायुमयस्तत्र विष्णुरय रवि ।
स्कम्भयज्ञोऽस्त्यय विष्णु सूर्यो नारायण प्रभु ॥
तन्नाभौ पृथिवीपद्म सुषुम्णानाडिदिग्दलम् ।
अक्ष. पृथिव्या य. सोऽग्निर्ब्रह्मात्र प्रतितिष्ठति ।
मेरौ प्रादुर्भवन् सोऽक्षो ध्रुवविन्दौ प्रसज्जते ॥ इति ।

इसके बाद आध्यात्मिक आत्मचतुष्टयमूलक शारीरसृष्टिप्रकरण का चार पुराणो के द्वारा कथन किया है। भगवान् वेदव्यास के समय मे आध्यात्मिकसृष्टिसम्बन्धी चार मत प्रसिद्ध थे। उन्ही चारो मतो का प्रतिपादन मार्कण्डेय आदि चार पुराणो के द्वारा किया गया है।

द्वितीय काण्ड

इस काण्ड मे सृष्टिकारणता-विषयक उपर्युक्त चार मतो का प्रतिपादन किया गया है क्योकि उस समय सृष्टि के कारण को लेकर चार मत प्रचलित थे।

प्रथम मत—सृष्टि का कारण गुणत्रयसमष्टिरूप प्रकृति है। इसी मत का प्रतिपादन मार्कण्डेयपुराण मे किया है।

द्वितीय मत—'अग्नीषोमात्मक जगत्' इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण जगत् अग्नि मे सोम की आहुति से उत्पन्न हुआ है। यहाँ अग्नि और सोम शब्द मौलिक तत्वो के वाचक है। जिसमे आहुति होती है, उस आधारभूत द्रव्य को अग्नि कहते है और जिसकी आहुति होती है, उस आहुत द्रव्य को सोम कहते है। अग्नि और सोम मे, सोम अग्नि मे आहुत होकर अग्निरूप बन जाता है, अत अग्नि ही शेष रहता है। अत सोम का अन्तर्भाव भी अग्नि मे ही है। इस प्रकार अग्नि से ही सारी सृष्टि होती है—यह द्वितीय मत है। इसका प्रतिपादन अग्निपुराण का विषय है।

तृतीय मत—किन्तु यह अग्नि भी सूर्य से उत्पन्न होती है जैसा कि बृहद्देवता मे शौनक ने कहा है—

अस्यैके सूर्यमेवैक प्रभव प्रलय विदु ।
सूर्याग्नित प्रजायेते अग्नी मध्यमपार्थिवौ ॥ इति ।

अर्थात् कतिपय विद्वान् सूर्य को ही इस विश्व का उत्पत्ति-स्थान और प्रलयस्थान मानते है। मध्यमलोकरूप अन्तरिक्ष की अग्नि तथा पृथिवीलोक की अग्नि इस सूर्याग्नि से ही पैदा होती है। अत अग्नि के भी सूर्याग्नि से उत्पन्न होने के कारण सूर्य ही वस्तुत. जगत् का प्रभव और प्रलय है। इस मत का प्रतिपादन भविष्यपुराण मे किया गया है।

चतुर्थ मत—'अथ वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुति के अनुसार सब प्रपञ्च विकारमात्र है। वाङ्मात्र से आरब्ध है। वास्तविक तत्व तो ब्रह्म ही है। ब्रह्म से ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है किन्तु ब्रह्म असङ्ग है और निर्विकार है, अत उससे यह ससङ्ग सृष्टि उत्पन्न नही हो सकती। इसलिए यह मानना पडता है कि यह सृष्टि रज्जु मे कल्पित भ्रान्तिमय सर्प की तरह ब्रह्म मे भ्रान्ति से कल्पित है। इस प्रकार ब्रह्म भ्रान्तिकल्पित अर्थात् विवर्तरूप सृष्टि का कारण सिद्ध होता है। इसी मत का प्रतिपादन ब्रह्मवैवर्तपुराण के द्वारा किया गया है।

ये ही चारो मत क्रमशः प्रकृतिकारणतावाद, अग्निकारणतावाद, सूर्यकारणतावाद और विवर्तकारणतावाद नाम से प्रसिद्ध है इन मतो का उपर्युक्त चार पुराणो मे कथन किया गया है।

वेदव्यासीय पुराणसंहिता का तृतीय काण्ड

इस काण्ड में ६ पुराणो के द्वारा अवतारसृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि भगवान् प्रजापति ही सृष्टि का मुख्य कारण है किन्तु इसके अवान्तर कारण कौन है ? इसका विचार करते हुए सृष्टि के अवान्तरकारण ६ बतलाये गये है। ये ही छहों अवान्तर कारण प्रजापति के अवतार कहलाते है। इन्ही छहो अवतारो का प्रतिपादन वेदव्यासीय पुराणसहिता के इस तृतीय काण्ड मे किया गया है। इनमें सर्वप्रथम लिङ्गावतार का निरूपण ११ वे लिङ्गपुराण के द्वारा किया गया है। जिसमे ये सकल कार्यपदार्थ विलीन होते है

इसी महद्ब्रह्माक्षररूप लिङ्ग से सृष्टि का प्रतिपादन मुण्डक-श्रुति बतला रही है—

"यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रश प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधा सौम्य भावा. प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति"। इति

अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसके सदृश हजारो विस्फुलिङ्ग (अग्निकण) उत्पन्न होते है उसी प्रकार हे सौम्य ! अक्षर से अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं और वे उसी मे लीन हो जाते हैं। भूत ही क्षरपुरुष कहलाते है और उनमे रहने वाला पुरुष अक्षर और भूतपति कहलाता है। इसो बात का गीतास्मृति मे प्रतिपादन किया गया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर· सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। इति ।

यद्यपि उपर्युक्त मुण्डकश्रुति मे अक्षर पुरुप मे सब पदार्थों का विलय वताया गया है न कि क्षरपुरुष मे तथापि क्षर और अक्षर परस्पर अविनाभूत हैं और इस प्रकार उनका ऐक्य है। इसलिए क्षरपुरुप मे होने वाला भूतो का विलय तदभिन्न अक्षरपुरुप मे कहलाता है । इसी अभिप्राय से श्रुति मे अक्षरपुरुप मे लय वतलाया है ।

यह महद्ब्रह्मरूप अक्षर नाना प्रकार के है। इसलिए इनसे नाना प्रकार की सृष्टियाँ होती है। इन महद्ब्रह्मसज्ञक लिंगो का ही निरूपण विशदरूप से लिङ्गपुराण मे किया गया है।

वराहपुराण

इस लिङ्गरूप अक्षर मे उत्पन्न होने वाली सृष्टि मे कितने ही क्षरपिण्ड उत्पन्न होते है । वे क्षरपिण्ड पृथिवी कहलाते है । उनका स्वरूप चौतरफ व्याप्त पिण्डसम्पादक स्तम्भन करनेवाले वायु-विशेष के द्वारा सवेष्टित होने पर निष्पन्न होता है। क्षरपिण्डो के स्वरूप के निष्पादक उस वायु का नाम ही वराह है। क्योकि वह पिण्डसम्पादक वायु विखरे हुए पृथिवीपरमाणुओ को आवृत करता है और उन्हे सघातरूप में परिणत कर देता है। अत वह परमाणुओ का आवरक तथा सहननकारक वायु "वृणोतीति वर ' अह्नोति-व्याप्नोतीति अह 'वरश्चासौ अहश्च इति वराह ' इस व्युत्पत्ति से 'वराह' कहलाता है । प्रत्येक पिण्ड की निष्पत्ति इस वराहरूप वायुविशेष से ही होती है । किन्तु विभिन्न पिण्डों के सम्पादक वराहो के नाम विभिन्न है । उनमे स्वयम्भूपिण्ड का सम्पादक वराह-वायु आदिवराह कहलाता है। परमेष्ठिपिण्ड का सम्पादक वायु यज्ञवराह, सूर्यपिण्ड का सम्पादक वायु श्वेतवराह, पृथिवीपिण्ड का सम्पादक वायु एमूषवराह तथा चन्द्रपिण्ड का सम्पादक वायु ब्रह्मवराह कहलाता है । आधिदैविक अश्वत्थ वृक्ष की पाच वल्शाएँ (टहनियाँ) हैं। अश्वत्थ वृक्ष की ये पाचो वल्शाएँ ही स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी व चन्द्रमा हैं । इस प्रकार आधिदैविक अश्वत्थ वृक्ष के उपर्युक्त पांचो पिण्डो के स्वरूपसम्पादक प्रजापति के

अवतार ये पाच वराह सिद्ध होते है। इन्ही पञ्चवराहो से स्वयम्भू आदि पाचो पिण्डो की सृष्टि होती है। इन्ही का निरूपण वराह-पुराण मे किया गया है।

इसीलिये श्रुतियो मे कहा है—

"स. (प्रजापति) वराहो रूप कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथ्वीमध आर्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत् पुष्करपर्णोऽप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवीत्वम्" (तै ब्रा १।३।६।७)

"इयती वाऽइयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री। तामेमूष इति वराह उज्जिघान। सोऽस्या (पृथिव्या) पतिः प्रजापति (शत १४।१।२।२१) इति

गुरुवर्य ने इसी वराहवायु का निरूपण करते हुए लिखा है—

यो वायुरेतामवृणोत् तथाह्लोत् त वै वराह प्रवदन्ति पूर्वे।
अदारयत्तामियमस्य दारास्तस्माच्च भूदारमिम वदन्ति ॥

अद्यापि पृथ्वी परित स वायुर्भूपृष्ठतो द्वादशयोजनान्तम्।
आक्रम्य ता सवृणुते समन्तादेमूष इत्येतमुदाहरन्ति ॥

प्रत्येक पिण्ड की निष्पत्ति इसी वराह वायु से होती है। इनमे पृथ्वीपिण्डनिष्पादक वराह को एमूषवराह कहते है। क्योकि वह वराहवायु इस पृथ्वी के चौतरफ रहता है अत—'आ समन्तात् ईम्—इमा पृथिवी वसति' इस व्युत्पत्ति से इसकी एमूषसंज्ञा है।

यह एमूषवराह जल मे विद्यमान पृथिवीपरमाणुओ को आवृत कर तथा उन्हे सघटित कर भूमि का निर्माण करता है। यही वराह के द्वारा जलनिमग्न पृथिवी के उद्धार का वैज्ञानिक रहस्य है। तैत्तिरीयसहिता में इसका स्पष्ट उल्लेख है। जैसे—

'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायु-र्भूत्वाऽचरत्। स इमामपश्यत्। ता वराहो भूत्वाऽहरत्।' इति।

स्कन्दपुराण

इन उपर्युक्त पृथिवीपिण्डो में पृथिवी का आरम्भक अग्नि मर्त्य, अमृतभेद से दो प्रकार का है। मर्त्याग्नि से पृथिवी का शरीर निष्पन्न होता है और अमृताग्नि उसके गर्भ में प्राणरूप से प्रतिष्ठित रहती है। वही प्राणरूप अमृताग्नि प्रजापति कहलाता है।

प्रजापतिरूप इस अग्नि के पाँच अवतार है। (१) सवत्सराग्नि, (२) वैश्वानराग्नि, (३) कुमाराग्नि, (४) चित्याग्नि और (५) पाशुकाग्नि। इनमें मध्यस्थ कुमाराग्नि है। इसी को प्रधान मानकर सकल पृथिवीशरीरो का निरूपण स्कन्दपुराण मे किया गया है क्योकि कुमार को ही स्कन्द कहते है। अत कुमाराग्नि का निरूपक स्कन्दपुराण है। इस कुमाराग्नि का निरूपण शतपथब्राह्मण के षष्ठकाण्ड के प्रथम ब्राह्मण में किया गया है —

'अभूद्वाऽइय प्रतिष्ठेति। तद्भूमिरभवन् तामप्रथयत् मा पृथिव्यभवत् तस्यामस्या प्रतिष्ठाया भूतानि च भूतानां च पति· सवत्सराय अदीक्षन्त। भूताना पतिर्गृहपतिरासीद्, उषा· पत्नी। तद् यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते। अथ य· स भूताना पति. मवत्मर. म। अथ या सा उषाः पत्नी औपसी सा। तानीमानि भूतानि च भूताना च पति सवत्सर उषसि रेतोऽसिञ्चन् स सवत्मरे कुमारोऽजायत। (शत ब्रा ६।१।३।७-८)

अर्थात् भूत व भूतपति सवत्सर प्रजापति ने उषा रूप पत्नी में रेत —सेचन किया। उससे एक वर्ष मे जाकर कुमाराग्नि उत्पन्न हुआ।

वामनपुराण

उपर्युक्त पृथिवीशरीर भिन्न-भिन्न द्युलोक के आश्रित है। इस प्रकार पृथिवी तथा द्युलोक से निष्पन्न द्यावापृथिवी का स्वरूप ही जगत् की प्रतिष्ठा वनता है और ये द्यावापृथिवी अनन्त है। उनमे से तीन द्यावापृथिवी प्रधान हैं। रोदसी क्रन्दसी और सयती। प्रत्येक द्यावापृथिवी मे द्युलोक प्रतिपद् होता है और पृथिवी अनुचर होती हैं। पृथिवी को ही 'गो' शब्द से कहा जाता है क्योकि सहस्र गोतत्वो के मिलने से ही एक पृथिवी का शरीर निष्पन्न होता है। उन सहस्र गोतत्वो में, जिनसे कि पृथिवी का शरीर निष्पन्न हुआ है, तीस-तीस गोतत्वो का एक अहर्गण होता है। इस प्रकार एक सहस्र गोतत्त्वो मे ३३ से कुछ अधिक अहर्गण सिद्ध होते है। उन अहर्गणो मे ६-६ अहर्गणो का एक एक स्तोम कहलाता है। उन स्तोमो मे पहिला स्तोम ३ अहर्गण का होता है, जो कि पृथिवीपिण्ड के अन्तर्गत है और वाद मे ६-६ अहर्गणो का एक-एक स्तोम वनता है। इस प्रकार ३३ वे अहर्गण तक ६ स्तोम हो जाते है। ३३

अहर्गणो को दो भागों में विभक्त करने से सप्तदशनामक एक स्तोम और सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पृथिवीगर्भस्थ यज्ञरूप विष्णु पृथिवी से विक्रमण करता हुआ त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश स्तोमों के द्वारा त्रिविक्रम वन जाता है। यही त्रिविक्रम यज्ञरूप विष्णु वामन कहलाता है, क्योकि इस यज्ञरूप विष्णु की विक्रान्ति ३३ वे स्तोमपर्यन्त ६ स्तोम वाले वषट्कार में एकविंश अहर्गणपर्यन्त अर्थात् तृतीय स्तोम तक ही होती है। यह पृथिवीपिण्ड के गर्भ मे रहता है अतः लघु है। अन्य देवता पृथिवी से वाहर एकविंश स्तोम तक रहते हैं। इसलिए इसे वामन कहते है। यह पृथिवीपिण्ड से निकल कर बाहर तीन विक्रमण करता है। अत. इसे त्रिविक्रम कहते है। इस यज्ञरूप विष्णु के प्रथम विक्रम के द्वारा त्रिवृत्-स्तोमरूप पृथिवी का सग्रह (ग्रहण) होता है। पञ्चदश स्तोमरूप द्वितीय विक्रम द्वारा पञ्चदशस्तोमरूप अन्तरिक्ष का सग्रह हो जाता है तथा एकविंशस्तोमरूप तृतीय विक्रम के द्वारा एकविंशस्तोमरूप द्युलोक का सग्रह हो जाता है। इस प्रकार तीन विक्रमो के द्वारा त्रिलोकी को अपने अधिकार मे करता हुआ यज्ञपुरुषरूप विष्णु सकल सृष्टि का निर्माण करता है। इसी रहस्य का प्रतिपादन वामनपुराण मे किया गया है। इस वामन का निरूपण शतपथ ब्राह्मण मे निम्न रीति से किया है :—

'वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसंमितमददुरिति। ते प्राञ्च विष्णु निपाद्य च्छन्दोभिरभित. पर्यगृह्णन्। 'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' इति दक्षिणत.। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चात्। जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरत। त छन्दोभिरभित परिगृह्य अग्नि पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्त श्राम्यन्तश्चेरु, तेनेमा खर्वां पृथिवी समविन्दन्त ।।इति।। (शत १, २, ५,)

कूर्मपुराण

"कश्यपात् सकल जगत्" अर्थात् सारा जगत् कश्यप से उत्पन्न होता है, इस उक्ति के अनुसार कश्यप पृथिवी पर दरीदृश्यमान सकल पार्थिव सृष्टि का कारण है। यह कश्यप कूर्मप्राण है। क्योकि यह सारी सृष्टि का निर्माण करता है, अत "यदकरोत् तत्कूर्म"

इस व्युत्पत्ति से कूर्म कहलाता है। यह कूर्मप्राणरूप प्रजापति कश्यप के आकार का बनकर सारी प्राणिसृष्टि का निर्माण करता है। जिस प्रकार कूर्म का ऊपर का भाग चौतरफ से झुका हुआ और पृथिवी से सलग्न होता है, नीचे का भाग समतल होता है, मध्य मे अवकाश होता है, उसी प्रकार इस सकल जगत् के उत्पादक कूर्मप्राण का भी आकार है। त्रैलोक्यव्याप्त इस कूर्मप्राण का उत्तरकपाल द्युलोक है जो कि चौतरफ से झुका हुआ तथा क्षितिज भागो मे पृथिवी से सलग्न प्रतीत होता है। इस प्राण का अधरकपाल पृथिवी है, जो कि सर्वथा समतल प्रतीत होता है। बीच मे अन्तरिक्ष है, जो कि रिक्त प्रदेश प्रतीत होता है। इस प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक मे व्याप्त यह कूर्मप्राण पूर्णतया कश्यप के आकार से आकारित है। त्रैलोक्यव्याप्त कूर्मापरपर्याय इस कश्यपप्राण मे पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक इन तीनो लोकों के रस विद्यमान है। पृथिवी का रस कठिन होने से दधि कहलाता है। अन्तरिक्ष का रस तरल होने से घृत कहलाता है और द्युलोक का रस विरल होने से मधु कहलाता है। द्युलोक का रस मधु है, इसीलिए द्युलोकस्थ आदित्य को छान्दोग्योनिषद् मे—

"आदित्यो वै देवमधु"—इस रूप से मधुरूप बतलाया गया है। तीनो लोको के दधि, घृत, मधु रसो से युक्त यह कूर्मप्राण इन रसो के द्वारा सृष्टि किया करता है। इस कश्यपापरपर्याय कूर्म को द्यावापृथिव्य भी कहा जाता है क्योकि यह द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य मे वर्तमान है। यह कूर्म आदित्यप्राण है। आदित्यस्वरूप कश्यप के आकारवाले इस कूर्मप्राण से पृथिवी मे दधि, घृत तथा मधुरसो का सेचन होता है और वे ही रस प्रजासृष्टि के निर्माण मे काम आते है अर्थात् उन्ही से प्रजाओ के शरीर का निर्माण होता है। शरीर मे इस तीनो रसो का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। मानव-शरीर में जो अस्थ्यादि कठिनप्राय अङ्ग है, वे पृथिवी के दधिरूप घनप्राण से निर्मित है। रुधिर, वसा, रस आदि चीजे द्रवप्राय आन्तरिक्ष्य घृतरस से निर्मित है और शरीर मे शर्करा भाग दिव्य मधुरस से निर्मित है।

लोकत्रयी के रसत्रयस्वरूप इस कश्यप प्राण से ही प्राणिशरीर का निर्माण होता है। इसी आधार पर "सर्वा प्रजा काश्यप्य."—

इस आभाणक के अनुसार सारी प्रजाएँ कश्यपोत्पन्न कहलाती हैं। इसी कूर्मापरपर्याय कश्यपप्राण का निरूपण कूर्मपुराण मे किया गया है। इस कश्यपापरपर्याय कूर्मप्राण का शतपथ ब्राह्मण मे निम्न रीति से निरूपण किया है—

'रसो वै कूर्म'। यो वै स एपा लोकानाम् अप्सु प्रविद्धाना पराङ् रसोऽत्यक्षरत् स एष कूर्म। स एप इम एव लोका'। तस्य यदधर कपाल, अय स लोक। तत् प्रतिष्ठितमिव भवति। प्रतिष्ठित इव ह्यय लोक। अथ यदुत्तर (कपाल) सा द्यौ। तद्व्यवगृहीतान्तमिव भवति। व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौ। अथ यदन्तरा तदन्तरिक्षम्। स एष इम एव लोका। तमभ्यनक्ति दध्ना मधुना घृतेन। दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्। घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य। स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूप कृत्वा प्रजापति प्रजा असृजत। यदसृजत अकरोत्तत्। यदकरोत् तस्मात् कूर्म। कश्यपो वै कूर्म'। तस्मादाहु सर्वा प्रजा. काश्यप्य इति। स य. स कूर्म. असौ स आदित्य। प्राणो वै कूर्म। प्राणो हीमा: प्रजा करोति। द्यावापृथिव्यो हि कूर्म.। इति। (शत ब्रा ६, १, १)

मत्स्यपुराण

"ऋपिभ्य. पितरो जाता. पितृभ्यो देवदानवा।
देवेभ्यश्च जगत्सर्व चर स्थाण्वनुपूर्वश॥

इस मनुवचन के अनुसार सारी प्रजाओं की उत्पत्ति ऋषियो से बतलायी गयी है। ऋषि शब्द "ऋषयो वै प्राणा." इस शतपथ-श्रुति के अनुसार मौलिक प्राण का बोधक है। ये प्राण तीन प्रकार के है। पार्थिव, आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य। भृगु, अङ्गिरा और अत्रि—ये तीन प्राण पार्थिव हैं। कश्यप, दक्ष और क्रतु—ये तीन प्राण आन्तरिक्ष्य है। मत्स्य, वसिष्ठ और अगस्त्य—ये तीन प्राण दिव्य है। इन दिव्य तीन प्राणो मे वसिष्ठ प्राण आकाश के उत्तर भाग मे, अगस्त्य प्राण दक्षिण भाग में तथा मत्स्य प्राण मध्य भाग मे रहता है। विषुवद्वृत्त से लेकर दक्षिण ध्रुव तक एक मत्स्य प्राण की स्थिति है तथा विपुवद्वृत्त से उत्तर ध्रुव तक दूसरे मत्स्य प्राण की स्थिति है। मत्स्यरूप प्राणविशेज के परिभ्रमण से यह सम्पूर्ण पार्थिव सृष्टि उत्पन्न होतो है। इस विषय का प्रतिपादन मत्स्यपुराण मे किया गया है।

इस प्रकार प्रजापति के अवतार लिङ्ग, वराह, कुमाराग्नि, वामन, कश्यप तथा मत्स्य इन ६ प्राणो से ६ प्रकार की अवान्तर सृष्टियाँ प्रजापतिसृष्टि मे होती है। इस रहस्य का प्रतिपादन वेदव्यासीय पुराणसहिता के लिङ्गपुराण से लेकर मत्स्यपुराण तक ६ पुराणो वाले तृतीयकाण्ड मे किया गया है।

वेदव्यासीय कल्प के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय काण्ड मे क्रमश प्रतिपादित आधिदैविकसृष्टि, आध्यात्मिकसृष्टि तथा अवतार-सृष्टि का नामान्तर से भी निरूपण किया गया है। इनमे आधिदैविक-सृष्टिप्रतिपादक ब्रह्मादि ६ पुराणो को उक्थभेदनाम से कहा है। आध्यात्मिकसृष्टिप्रतिपादक चार मत वाले मार्कण्डेयादि चार पुराणों को उक्थमतभेद शब्द से व्यवहृत किया है तथा सृष्टि के अवान्तर कारणो के प्रतिपादक लिङ्गादि ६ पुराणो को अवतारभेद शब्द से व्यपदिष्ट किया है। जैसे—

उक्थभेदा — ब्रह्मा-पद्म-विष्णु-वायुश्चापश्च नारदश्चेति ।
पट्क सृष्टेरुक्थ ब्रह्मादीना पर पर तूक्थम् ॥

अर्थात् ब्रह्मा, पद्म, विष्णु, वायु, अप्तत्व व नारद—ये सृष्टि के उक्थ है। इनसे सृष्टि उत्पन्न होती है। इन ब्रह्मादि ६ उक्थो मे पूर्व पूर्व उक्थ का पर पर उक्थ कहलाता है। जैसे ब्रह्मा से सकल सृष्टि उत्पन्न होती है अत ब्रह्मा सकल सृष्टि का उक्थ है। ब्रह्मा पद्मोद्भूत है अत ब्रह्मा का उक्थ पद्म है। पद्म विष्णु से उत्पन्न है अत पद्म का उक्थ विष्णु है। इसी प्रकार विष्णु का उक्थ वायु, वायु का उक्थ अप्तत्व तथा अप्तत्व का उक्थ नारद प्राण है। जैसे—

उक्थमतभेदा — त्रैगुण्यमग्निसूर्यौ ब्रह्मविवर्तोऽन्य उक्थमतभेदा ।
प्रकृतेरग्ने सूर्यात् सृष्टिरिय ब्रह्मणो विवर्तो वा ॥

अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति, अग्नि व सूर्य से सृष्टि होती है। अथवा यह सृष्टि वास्तविक नही किन्तु ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् ब्रह्म मे भ्रान्ति से कल्पित है।

अवतारभेदा — लिङ्गवराहवामनकुमारकूर्माश्च मत्स्यश्च ।
एते षट् त्ववतारा सन्ति विराजोऽनुसृष्टिविधा ॥

अर्थात् लिङ्ग, वराह, वामन, कुमार (स्कन्द) कूर्म तथा मत्स्य ये ६ पुराण विराट् प्रजापति के अवतार है।

गरुडपुराण

उपर्युक्त रीति से वेदव्यासीय पुराणसहिता के क्रमश. ६,४,६ इन भागों मे विभक्त पुराणो के द्वारा सृष्टि-प्रकरण का विशदतया निरूपण किया गया है। इससे आगे चतुर्थ-काण्डात्मक गरुड-पुराण के द्वारा प्रतिसृष्टि का प्रतिपादन किया जा रहा है। प्रतिसृष्टि अनेक प्रकार की है—

१ प्रचलित क्रम के विपरीत क्रम से होने वाली सृष्टि प्रतिसृष्टि है।

२. सञ्चरक्रम से विरुद्ध प्रतिसञ्चरक्रम प्रतिसृष्टि है।

३. आत्मा के बहुत्व क्रम से विपरीत आत्मा का कैवल्य अर्थात् एकत्वक्रम प्रतिसृष्टि है।

४ उत्पत्तिक्रम से विपरीत निर्वाणक्रम प्रतिसृष्टि है। इन समस्त प्रतिसृष्टियों का प्रतिपादन गरुडपुराण का विषय है।

गरुडशब्द गरुत्मान् पक्षी को बतलाता है। इसी को वेदशास्त्र में अनेक स्थलो मे सुपर्ण शब्द से कहा गया है। यह सुपर्णरूप प्राण-विशेप स्वयभू आदि सात लोकों से क्रमश: अवतीर्ण होकर पृथिवी पर पहुँचकर पुन आरोहक्रम से सप्तलोक-सम्बन्धी नाना भुवनों मे इतस्तत. सञ्चरण किया करता है। इसलिए "शोभन पतति गच्छति" इस व्युत्पत्ति के द्वारा इसे सुपर्ण कहा गया है। यह सुपर्ण पृथिवी मे नाना योनियो में जन्मग्रहण करता है। तदनन्तर शरीर-त्यागानन्तर पुन लोकान्तरों मे गमन करता रहता है। इसलिए कर्मानुसार लोकान्तरो मे गमन करनेवाला कर्मात्मारूप प्राण ही सुपर्ण कहलाता है जैसा कि श्रुति बतला रही है—

"एक. सुपर्ण. स समुद्रमाविवेश य इद विश्व भुवन विचष्टे।
त पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्त माता रेढि स उ रेढि मातरम्॥"

अर्थात् एक हिरण्मय द्विव्य सुपर्ण समुद्र के अन्दर विद्यमान है जो कि सम्पूर्ण भवन का द्रष्टा है। उस सुपर्ण को मैने शुद्ध मन से पृथिवी मे और अध्यात्म मे अत्यन्त समीप देखा। माता अर्थात् पृथिवी सुपर्ण को चाटती है और वह सुपर्ण माता पृथिवी को चाटता है। यह समुद्रान्तर्वर्ती सुपर्ण अर्थात् परमेष्ठिसमुद्र के गर्भ मे स्थित सूर्यरूपी सुपर्ण सारे त्रिलोकी का साक्षात्कार करता है। यहाँ

मातृशब्द पृथिवी का वाचक है। अत माता पृथिवी सूर्य को चाटती है—इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी सूर्य के रस को ग्रहण करती है और सूर्य पृथिवी को चाटता है—इसका तात्पर्य—सूर्य पृथिवी के रस को ग्रहण करता है। प्रकृत मे यह तात्पर्य है कि दिव्य सुपर्ण प्राण पृथिवी मे आता है। अथवा मातृशब्द से यहाँ वषट्कारापरपर्याय त्रैलोक्यरूपी वाक् का ग्रहण है—जिस वाक् का प्रतिपादन—

वाच देवा उप जीवन्ति विश्वे वाच गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो ह वै जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

इस श्रुति मे किया गया है। "अथो वागेवेद सर्वम्" यह ऐतरेय श्रुति भी इसी तथ्य का प्रतिपादन कर रही है। अत. उपर्युक्त मन्त्र मे "स उ रेढि मातरम्" का अर्थ लोकत्रयरूपा वाक् का प्राण मे सम्वन्ध होता है और "त माता रेढि" का अर्थ प्राण लोकत्रयरूपा वाक् से संसृष्ट होता है।

इससे यह सिद्ध है कि यह सुपर्णरूप प्राणात्मा सर्वत्र इन लोको मे कर्मवश इतस्तत सञ्चरण करता रहता है। इसी विषय का प्रतिपादन गरुडपुराण में हुआ है। गरुडपुराण जीवित प्राणी के भावी फल को वतलाता है—अर्थात् जीवित विद्यमान प्राणी शरीर-त्यागानन्तर कहाँ-कहाँ जायेगा ? किन-किन फलो को भोगेगा ? इत्यादि बातो का निरूपण ही गरुडपुराण का विषय है। इस सुपर्ण का प्रतिपादन चितिब्राह्मण में भी किया गया है। वहाँ यह वतलाया गया है कि किस प्रयोजन के लिए अग्निचयन किया जाता है ? कितने ही आचार्यो का मत है कि यह अग्नि सुपर्ण वनकर मुझे स्वर्गलोक मे पहुँचा दे—इसलिए चयन किया जाता है। किन्तु याज्ञवल्क्य कहते है कि अग्निचयन का यह प्रयोजन नही है, अपि तु प्राण सुपर्णरूप धारण कर प्रजापति वना और उसी रूप से उसने देवो को उत्पन्न किया। इसी सुपर्णरूप को धारण कर देवता अमर वने। क्योकि इसी रूप से वे प्राण, प्रजापति और देव वने, इसीलिए अग्निचयन किया जाता है। (शत ६।१।२।३५)

इस प्रकार ४ काण्डो के द्वारा वेदव्यासीय पुराणसहिता में सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि से सम्वन्धित विषयो का प्रतिपादन किया गया है।

ब्रह्माण्डपुराण

सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि का प्रतिपादन करने के बाद उनके आयतन का निरूपण करना है। जिस आयतन मे ये सृष्टियाँ तथा प्रतिसृष्टियाँ होती है, उसी आयतन का नाम ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड के स्वरूप का प्रतिपादन ब्रह्माण्डपुराण का विषय है। इस प्रकार पञ्चलक्षण अर्थात् पञ्चधा विभक्त पुराणसहिता के द्वारा सम्पूर्ण विश्वविद्या का प्रतिपादन वेदव्यास ने किया। यह विश्व की सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि का विज्ञान अत्यन्त प्राचीन है। इसलिए इस विश्व-सृष्टिविज्ञान को पुराणशास्त्र कहा जाता है।

यद्यपि उपर्युक्त रीति से वेदव्यासकल्पीय पुराणसहिता पाँच भागो में विभक्त है तथापि प्रतिसृष्टिविषयक तथा आयतननिरूपक भाग को एक मानकर इसे काण्डचतुष्टयात्मिका पुराणसहिता कहा है।

द्वितीय कल्प समाप्त ॥

उत्तरकल्पीय पुराणसंहिता के तृतीय तथा चतुर्थ कल्प

उत्तरकल्पीय पुराणसहिता लोमहर्पणसम्बन्धी तथा उग्रश्रवा-सम्बन्धी भेद से दो प्रकार की है। सर्वप्रथम लोमहर्षण ने व्यासप्रणीत पुराणसहिता का अध्ययन कर एक नवीन पुराणसहिता की रचना की। लोमहर्षणप्रणीत पुराणसहिता पाँच लक्षणो से युक्त थी। वे पाँच लक्षण—मन्वन्तर, सृष्टि, प्रतिसृष्टि (प्रलय), वश व वश्यानुचरित थे।

सृष्टि से पुराणो मे प्रतिपादित प्रकृत्यादि नव सर्ग अभिप्रेत हैं। प्रतिसृष्टि शब्द से अनुसृष्टि भी अभिप्रेत है। यह प्रतिसृष्टिभेद अनुसृष्टि भुवनकोश (भूगोल) से सम्वन्धित तथा ज्योतिश्चक्र (खगोल) से सम्वन्धित होने के कारण दो प्रकार की है। वंश—ऋपिवश, सूर्यवश, चन्द्रवंश तथा अग्निवश भेद से चार प्रकार का है। उन्ही चारो वशो मे अत्यन्त महत्त्वशाली तथा विशिष्ट कर्मो वाले पुरुषो का चरित ही वश्यानुचरित कहलाता है। चौदह मनुओं का क्रम तथा उनके कतिपय चरित ही मन्वन्तर मे निरूपित है। मनुओं के भोगकाल को ही मन्वन्तर कहते हैं। 'मन्वन्तर—निर्धार' नामक लघुकाय पुस्तक मे मन्वन्तर के विपयो का सक्षिप्त तथा सारपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लोमहर्पणप्रणीत पुराणसहिता का इतना ही सन्दर्भक्रम है।

लोमहर्षण के ६ शिष्य थे । वे ६ शिष्य—त्र्य्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, शाशपायन तथा हारीत थे । इसीलिए कहा है—

त्र्य्यारुणि. कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रण. ।
शाशपायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे ।।

उनमे से शाशपायन, सावर्णि तथा कश्यप ने अपनी अपनी पृथक् पुराणसहिताओ का निर्माण किया । शाशपायननिर्मित पुराण-सहिता में लोमहर्षणप्रणीत सहिता की अपेक्षा—आख्यान, उपाख्यान, गाथा व कल्पशुद्धि—इन नवीन विषयो का निरूपण था ।

यद्यपि—'आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि कल्पशुद्धिभि ।
पुराणसहिता चक्रे भगवान् वादरायण ।।'

इस उक्ति से आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि—इन अंशो का संनिवेश वेदव्यासकृत पुराणसहिता मे भी था, यह सिद्ध होता है । तथापि पुराणविद्या का आविर्भाव व्यास ने ही किया था, इस तथ्य को वतलाने के लिए सभी पुराणविषयो को वेदव्यास-प्रणीत कह दिया गया है । इसीलिए पुराणसहिता के निर्माणकाल के वहुत समय वाद नैमिषारण्य क्षेत्र मे सूत तथा शौनक के सवादरूप १८ पुराणग्रन्थो को भी वेदव्यासप्रणीत वतला दिया गया है । जैसे—

'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुत ।' इति ।

वस्तुत. वेदव्यास ने लोमहर्षण एव उनके शिष्यो द्वारा प्रणीत पुराणसंहिताओ की मूलभूत पुराणसहिता का ही निर्माण किया था न कि लोमहर्षणादिप्रणीत पुराणसहिताओ तथा तदुत्तरकालिक सूतशौनकसवादसिद्ध १८ पुराणग्रन्थो का । पुराणो के आलोचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि १८ पुराणग्रन्थो का निर्माण लोमहर्षण तथा उनके पुत्र व शिष्य उग्रश्रवा ने ही किया था । इसी प्रकार आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धिरूपविषयो से युक्त पुराणसहिता का प्रणयन शाशपायन ने ही किया था ।

आख्यान तथा उपाख्यान—आख्यान तथा उपाख्यान शब्दो के अर्थ मे विद्वानो मे विचारभेद है । जैसे—

१. दृष्टि चरित्र आख्यान तथा श्रुतचरित उपाख्यान ।

२. सर्वप्रकार के चरित्र आख्यान तथा प्रासङ्गिक चरित्र उपाख्यान।

३. महान् सन्दर्भवाले चरित्र आख्यान तथा क्षुद्र सन्दर्भ वाले चरित्र उपाख्यान।

४. वैदिक चरित्र आख्यान तथा लौकिक चरित्र उपाख्यान।

ये आख्यान तथा उपाख्यान निम्नरीति से ८ भागो में विभक्त है। जैसे—

१. केवल आध्यात्मिक, (अध्यात्म से सम्वन्धित)।

२ केवल आधिदैविक (प्रकृति से सम्बन्धित)।

३. केवल आधिभौतिक (भूतों से सम्बन्धित)।

४. आध्यात्मिक, अधिभौतिक (अध्यात्म तथा भूत दोनो से सम्वन्धित)।

५. आध्यात्मिक, आधिदैविक (आध्यात्मिक तथा प्राकृतिक तत्वो से सम्वन्धित)।

६. आधिदैविक, आधिभौनिक (प्राकृतिक तत्त्व तथा भूत दोनो से सम्वन्धित)।

७. आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक (अध्यात्म, प्राकृतिक तत्त्व तथा भूत तीनो से सम्वन्धित)।

८. मिथ्याकल्पित—इनमे मिथ्याकल्पित आख्यान की कल्पना खगोलीय नक्षत्रादि के परिज्ञानार्थ की गई है जैसे प्रजापति का अपनी पुत्री का अनुधावन आदि।

गाथा—वेदमन्त्रो से भी अधिक प्राचीन श्लोकविशेष जिनमें मन्त्र के लक्षण का समन्वय नही है, गाथा कहलाते हैं।

कल्पशुद्धि—विधिक्रम को कल्प कहते है। यह विधिक्रम-रूप कल्प—श्रौत, स्मार्त (गृह्य) सामयिक तथा आचारिक (आचार सम्वन्धित) भेद से चार प्रकार का है। इन श्रौत, स्मार्त, सामयिक तथा आचारिक विधिक्रमो का विवेचन द्वारा परिशोधन (सम्यग् निर्णय) ही कल्पशुद्धि कहलाती है। श्रौत, स्मार्त आदि कल्पशुद्धि के इतिहास से सम्बन्धित न होने पर भी प्रश्न तथा उत्तर द्वारा उनका

इतिहास में सनिवेश हो सकता है, अत इनका भी पुराणविद्या मे प्रदर्शन कर दिया गया है ।

सावर्णिकृत पुराणसहिता मे सभी दर्शनविद्याओ, कतिपय कलाओ, परीक्षाविषयो, आगमविषयो तथा नीतिविपयो का सग्रह कर संनिवेश किया गया है ।

कश्यपकृत पुराणसहिता मे वेदोपबृंहण, पुराणावतरण आदि विषयों का सनिवेश है ।

उपर्युक्त रीति से लोमहर्षण, शाशपायन, सावर्णि तथा कश्यप के द्वारा प्रणीत चारो पुराण सहिताये सूतशौनकसवादसिद्ध १८ पुराणग्रन्थो की मूलभूत संहिताये कहलाती हैं ।

इस प्रकार पुरासहिताओ की तीन श्रेणियाँ हो जाती है—

१. बादरायणकृत पुराणसहिता—प्रथम श्रेणि ।

२. लोमहर्षण, शाशपायन, सार्वाणि, कश्यपविरचित पुराण-सहिताये—द्वितीय श्रेणि ।

३. नैमिपारण्य मे सूतशौनकसवादसिद्ध १८ पुराणग्रन्थ—तृतीय श्रेणि ।

पुराणविद्या के प्रचार के लिए भगवान् वेदव्यास के द्वारा नियुक्त लोमहर्पण एक बार देशो मे भ्रमण करते हुए नैमिषारण्य पहुंचे । वहाँ ८४ हजार शिष्यों के साथ भगवान् शौनक ऋषि सहस्र-वार्षिक नाम से प्रसिद्ध त्रिवर्षीय सत्र का अनुष्ठान करते हुए नियत क्षेत्र मे रह रहे थे । उन्होने लोमहर्षण को आते देखकर अति हर्ष से स्वागत किया और वेदव्यासप्रणीत १८ पुराणों को सुनाने की उनसे प्रार्थना की । लोमहर्षण को सुनाने के लिए उद्यत देखकर, नवीन विद्या के श्रवण को एक धार्मिक कृत्य समझ कर शुभ मुहूर्त मे कथा आरम्भ करने की इच्छा शौनक ने की। शुभ मुहूर्त का विचार करने पर आषाढ शुक्ला पूर्णिमा शुभ मुहूर्त प्रतीत हुआ । उस दिन शौनकजी ने पुराणकथाये सुनने के लिए महान् आयोजन किया । किन्तु लोमहर्षण सूत जाति का है । अन गुरु बनाने के योग्य नही है । ऐसी शिष्यो की विचारधारा के कारण कुछ समय तक कथा प्रारम्भ नही की जा सकी ।

किन्तु नीच जाति वाले से उत्तम शिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए। इस मनुवचन के अनुरोध से अद्वितीय विद्या को जानने वाला शूद्र भी गुरु बनाने योग्य है, किन्तु उसके पैर दबाना तथा उसका उच्छिष्ट भोजन नही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा शौनकजी का आग्रह था। अतः आषाढ शुक्ला पूर्णिमा के दिन शुभ मुहूर्त मे उसे गुरु स्वीकार कर शौनकादि ने लोमहर्षण की गुरुरूप से पूजा की। तदनन्तर लोमहर्षण ने पुराणकथा सुनाना प्रारम्भ किया। किन्तु वेदव्यासजी द्वारा कथित क्रम के अनुसार कथा सुनाना प्रारम्भ करने पर भी शौनकादि श्रोताओ के द्वारा बीच-बीच में अनेक प्रश्न तथा समाधान करने पर लोमहर्षण द्वारा सुनाई कथा का क्रम वेदव्यासोक्त कथाक्रम से परिवर्तित हो गया। लोमहर्षण शौनकादि के प्रश्नों का उत्तर देते हुए जिस क्रम से दिन मे कथा सुनाता था उसी नवीन क्रम से वह उसको लिखता गया। इस प्रकार लोमहर्षण द्वारा नवीन क्रम से प्रणीत पुराणग्रन्थ बन गए। लोमहर्षण ने इस तरह ब्रह्मादि पुराणों का श्रवण करा कर ८वे अग्निपुराण को सुनाना प्रारम्भ किया। उस समय द्वारकानिवासी बलरामजी घूमते हुए वहाँ आ गये। सूत-जातीय लोमहर्षण को शूद्र मानकर ब्राह्मणो को कथा सुनाते हुए देख कर उस पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए। और उसके कारण का विचार न करते हुए सहसा मूसल का प्रहार कर लोमहर्षण को मार दिया। इस प्रकार लोमहर्षण के मारे जाने पर भगवान् शौनक बलरामजी पर अत्यन्त कुपित हुए और कहा कि तुमने मेरे गुरु को क्यों मारा? बलरामजी ने उत्तर दिया कि मैं इस लोमहर्षण को जानता हूँ, यह सूत जाति का है और शूद्र है। यह आप ब्राह्मणों के साथ शिष्य के समान आचरण कर रहा था, क्योकि गुरु के आसन पर बैठकर कथा सुना रहा था। इस अधर्मकार्य को देखकर मुझे क्रोध आ गया, अतः मैंने मार दिया।

तब भगवान् शौनक ने कहा कि यह अधर्म नही है कि नीच जाति का पुरुष ब्राह्मणो को शिक्षा दे। क्योकि मनु आदि स्मृतिकारो ने कहा है कि नीच से भी उत्तमविद्या ग्रहण करनी चाहिए। अतः उत्तमविद्या की शिक्षा देने वाला शूद्र भी गुरुपद के योग्य है। वेद-व्यासजी द्वारा प्रवर्तित परमोत्तम पुराणविद्या को इसके अतिरिक्त कोई नही जानता। इसलिए हम लोगों ने इन्हें गुरु बनने की प्रार्थना की थी। आपने हमारे गुरु को मार कर महान् अनर्थ किया है। इस

प्रकार शौनकादि के द्वारा वलरामजी की भर्त्सना करने पर वलराम जी अपने दोष को समझकर लज्जित हो गए और उन्होंने शौनकादि से प्रार्थना की कि इस लोमहर्षण का पुत्र उग्रश्रवा इससे भी अधिक पुराणविद्या का ज्ञाता है। इसलिए मै उसको वुलाता हूँ। वह यहाँ आकर आपको पुराणकथा सुनायेगा। इस प्रकार ब्राह्मणो को सान्त्वना देकर अपने नौकर के द्वारा पञ्चनदप्रान्तनिवासी उग्रश्रवा को शीघ्र वुलाकर उसे गुरुपद पर नियुक्त किया।

उग्रश्रवा वहुश्रुत तथा ६ गुरुओ का शिष्य होने से यद्यपि लोमहर्षण से भी अधिक पुराणविद्या का ज्ञाता था। तथापि उसके युवा होने के कारण शौनक को सन्देह था कि यह अपने पिता के समान पुराणविद्या का जानकार है या नही। इस वात को जानने के लिए उसने कहा, कि लोमहर्षण से सुने हुए कतिपय पुराणो के कुछ भागो को आप हमें सुनाइये। उससे हमे मालूम हो जायगा कि आपको पुराणविद्या का कितना ज्ञान है ? तव हम आपका गुरुपद पर अभिषेक करेंगे। उग्रश्रवा ने इस वात को स्वीकार किया। तव भगवान् शौनक ने प्रथम ब्रह्मपुराण को छोड़कर द्वितीय पद्मपुराण सुनाने के लिए कहा। उग्रश्रवा ने शौनकादि को पद्मपुराण सुनाया। किन्तु शौनकादिकृत प्रश्नो के समाधान से लोमहर्षण द्वारा सुनाये हुए पद्मपुराण से उग्रश्रवा के सुनाये हुए पद्मपुराण मे कुछ क्रमविपर्यास हो गया। उग्रश्रवा भी जो दिन में शौनकादि को सुनाता था उसे उसी प्रकार लिख लेता था। इस प्रकार दोनों के सुनाये हुए पद्मपुराण मे क्रमविपर्यास के कारण पद्मपुराण के दो भेद हो गए। एक लोमहर्षणकृत पद्मपुराण तथा दूसरा उग्रश्रवाविरचित पद्मपुराण।

किन्तु दोनो के द्वारा विरचित पद्मपुराणो का नाम एक ही रहा जैसे चतु:श्लोकी भागवत, सप्तश्लोकी भागवत, अट्ठारह हजार श्लोको वाली, लोमहर्षण के द्वारा प्रोक्त भागवत तथा उग्रश्रवा के द्वारा विरचित अट्ठारह हजार श्लोको में निवद्ध भागवत भिन्न-भिन्न है तो भी उनके नामो मे कोई भेद नही है। सभी एक ही भागवत नाम से व्यवहृत होती हैं। यही स्थिति लोमहर्षण द्वारा विरचित तथा उग्रश्रवा द्वारा विरचित पद्मपुराणो की है।

इसी प्रकार तृतीय विष्णुपुराण को छोडकर चतुर्थ वायुपुराण का शौनकादि ने श्रवण किया। उसमे भी शौनकादि के प्रश्नो

के तथा उनके समाधान के कारण सन्दर्भभेद हो जाने से उसके भी दो भेद हो गए। उनमे लोमहर्षणकृत पुराण की वायुपुराण सज्ञा तथा उग्रश्रवाविरचित की शिवपुराण सज्ञा हुई। इसीलिए पुराण-गणनाप्रसग मे कही चतुर्थपुराण को वायुपुराण और कही शिवपुराण कहा गया है। इसी प्रकार पञ्चम भागवतपुराण को छोड़ कर छठे नारदपुराण के उग्रश्रवा के सुनाने पर उसमे शौनकादि के प्रश्नो के कारण सन्दर्भभेद हो जाने से इसके भी दो भेद हो गये, एक लोमहर्षण-विरचित तथा दूसरा उग्रश्रवाविरचित। उनमें लोमहर्षणविरचित पुराण की नारदपुराण सज्ञा तथा उग्रश्रवाविरचित की वृहन्नारदपुराण संज्ञा हुई। परन्तु इन दोनो मे अधिक भेद नही है। उपर्युक्त रीति से उग्रश्रवा के द्वारा सुनाये हुए तीन पुराणो के सुन लेने पर शौनकादि की उग्रश्रवा पर श्रद्धा उत्पन्न हो गई कि उग्रश्रवा पुराणविद्या का उत्तम ज्ञाता है तब उसको गुरुपद पर अभिषिक्त कर अग्निपुराण आदि शेष पुराणो का उग्रश्रवा से श्रवण किया। उग्रश्रवा दिन मे शौनकादि को जिस प्रकार पुराणो को सुनाता था उसी प्रकार रात्रि मे उनको लिख लेता था। इस प्रकार षट्प्रश्नीसदर्भ से १८ पुराणो की रचना हो गई। वे ही पुराणग्रन्थ आज पुराणनाम से उपलब्ध है। इन पुराणग्रन्थो के प्रभाव से व्यास द्वारा विरचित पुराणसंहिता तथा लोमहर्षण, शांशपायन, काश्यप व सावर्णि विरचित पुराणसहिताये विलुप्त हो गईं। किन्तु लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा विरचित पुराणग्रन्थों में वेद-व्यास, शांशपायन, काश्यप तथा सावर्णिविरचित पुराणसहिताओ में निरूपित सभी विषय चरित्रो के द्वारा उपवृहित रूप से विद्यमान है। अतः 'अष्टादशपुराणाना कर्ता सत्यवतीसुत'। इस उक्ति में किसी प्रकार का विरोध नही है। अर्थात् इन १८ पुराणग्रन्थों मे सभी विषय वे ही है जिनका निरूपण वेदव्यासविरचित पुराणसंहिता मे किया गया था।

भेद केवल इतना ही है कि वेदव्यासविरचित पुराणसहिता १८ प्रकरणो मे विभक्त एक ही ग्रन्थ था। किन्तु लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा विरचित, वर्तमान मे उपलब्ध पुराण १८ ग्रन्थरूप है। इनमें द्वितीय पद्मपुराण, चतुर्थ वायुपुराण तथा षष्ठ नारदपुराण लोमहर्षण-विरचित तथा उग्रश्रवाविरचित भेद से दो दो प्रकार के है, पद्मपुराण को छोड़कर उनकी संज्ञा भी पृथक्-पृथक् है, यह ऊपर बतलाया जा

चुका है। किन्तु इससे पुराणो की अष्टादशविधता मे कोई बाधा नही है। क्योकि पुराणों की गणना मे या तो लोमहर्षणविरचित पुराणो या उग्रश्रवाविरचित पुराणो मे से एक की ही गणना होती है। क्योकि दोनो द्वारा विरचित पुराणो मे शौनकादि के प्रश्नो तथा उनके समाधान की पृथक्ता को छोड़कर मूलविपय का कोई भेद नही है। अतः पुराणो की गणना लोमहर्षण द्वारा विरचित या उग्रश्रवा द्वारा विरचित पुराणो मे से किसी एक के पुराणग्रन्थो को लेकर करनी चाहिए।

पौराणिक पॉच लक्षणों का निरूपण

सृष्टि, प्रतिसृष्टि (प्रलय), वश, मन्वन्तर तथा वश्यानुचरित ये पाच लक्षण पुराण के है अर्थात् पुराणो में सृष्टि आदि पाँच तत्त्वो का प्रतिपादन है। [१]

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा तदुत्पन्न फल ये भी पाँच लक्षण पुराण के माने जाते हैं, अर्थात् पुराणो मे धर्मादि पांच तत्त्वो का निरूपण पाया जाता है। [२]

ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, रुद्र इनकी महिमा तथा भुवन के सहार का प्रतिपादन भी पुराणो मे है, अतः ये भी पुराण के पाँच लक्षण हैं। [३]

इनमे सृष्टि पुराणो का प्रधान प्रतिपाद्य है तथा प्रतिसृष्टि आदि गौणविषय है। अतः प्राधान्येन सृष्टिविद्या को ही पुराण कहा जाता है। सृष्टि के भेद से ही इस सृष्टि मे परिच्छेदों की कल्पना की गई है।

पुराणो मे उपर्युक्त रीति से—१ मन्वन्तरविज्ञान, २ सृष्टि-विज्ञान, ३. प्रतिसृष्टिविज्ञान, ४. वशविज्ञान तथा ५. वश्यानु-चरितविज्ञान—इन पाँच विषयो का निरूपण है।

इनमे से प्रत्येक विषय में पाँच-पाँच अवान्तर विषय है। जैसे—मन्वन्तरविज्ञान मे—१. युग, २. दिव्ययुग, ३. नित्यकल्प, ४. सप्तकल्प, ५. त्रिशत्कल्प—ये पाँच विषय हैं।

सृष्टिविज्ञान मे—१. सृष्टिक्रम, २. सृष्टिविषयक भिन्न मत, ३ अवतार, ४. आयति (शरीरत्यागानन्तर भावी विज्ञान),

५ ब्रह्माण्ड—ये पाँच विषय है। इनमे आदि के ६ पुराणो (ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण) मे सृष्टिक्रम का निरूपण है, जिसका प्रतिपादन ब्रह्मादि पुराणों का निरूपण करते हुए किया जा चुका है। प्रकारान्तर से पुराण का यह प्रथम विभाग ६ अवयव वाला है।

सृष्टिकारणताविपयक भिन्न मतो का प्रतिपादन करने वाला द्वितीय विभाग है। इस द्वितीय विभाग का निरूपण पहिले किया जा चुका है किन्तु प्रसङ्ग आजाने से उसका पुन प्रतिपादन किया जारहा है। सृष्टिविषयक चार मत है—

गुणत्रयात्मक प्रकृति से सृष्टि मानने वाला प्रथम मत है। इसका निरूपण मार्कण्डेयपुराण मे हुआ है। 'अग्नीषोमात्मक जगत्' इस श्रुति के अनुसार अग्नि से सृष्टिका प्रतिपादन करने वाला द्वितीय मत है। इसका प्रतिपादन अग्निपुराण के द्वारा किया गया है। यद्यपि उपर्युक्त श्रुति से अग्नि व सोम दोनो मे सृष्टिकारणता सिद्ध है। किन्तु इन दोनों मे अग्नि अत्ता है सोम अन्न है। आद्य की अत्ता मे, अर्थात् सोम की आहुति अग्नि मे होने पर सोम अग्नि ही वन जाता है। अत. अग्नि के ही प्रधान होने से अग्नि को ही सृष्टि का कारण माना है।

कतिपय विद्वान् सूर्य से ही सृष्टि वतलाते है। जैसा कि—'अस्यैके सूर्यमेवैक प्रभव प्रलय विदु। सूर्याग्नितः प्रजायेते अग्नी मध्यमपार्थिवौ।' इस वृहद्देवतावचन मे वतलाया गया है। इस मत का प्रतिपादन भविष्यपुराण मे किया गया है।

'ब्रह्मैवेद सर्वम्' इत्यादि श्रुतियो के अनुसार सकल प्रपञ्च ब्रह्ममय है अर्थात् ब्रह्म ही सकल सृष्टि का कारण है। किन्तु असग ब्रह्म से सृष्टि संभव नही। अत सृष्टि भ्रान्तिकल्पित है अर्थात् ब्रह्म-का विवर्त है, ऐसा एक मत है। इस मत का निरूपण ब्रह्मवैवर्तपुराण में किया गया है। इस तरह मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्य पुराण तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण इन चार पुराणों मे सृष्टिकारणताविषयक चार मतों का प्रतिपादन है।

यद्यपि सृष्टि का प्रधान कारण भगवान् प्रजापति है, किन्तु सृष्टि के कतिपय अवान्तर कारण भी है, जो कि प्रजापति के अव-तार कहलाते हैं। वे है—

१. महद्ब्रह्मसञ्ज्ञक अक्षर जिसे लिङ्ग भी कहा जाता है, क्योकि सभी कार्यो का लय उसी में होता है। २. वराह नामक वायु जो कि पृथ्वीशब्दवाच्य क्षरपिण्डो का उत्पादक है। ३ स्कन्दनामक कुमाराग्नि, ४. वामनापरपर्याय त्रिविक्रम विष्णु, ५ कूर्मापरपर्याय कश्यप (सूर्य), ६. मत्स्य। लिङ्ग से लेकर मत्स्य तक के पुराणो मे सृष्टि के अवान्तर कारणो का स्वरूप पहिले लिङ्गादिपुराणो के निरूपण के प्रसङ्ग मे बतलाया जा चुका है। इन्ही ६ अवान्तर कारणो का प्रतिपादन क्रमश. लिङ्गपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, व मत्स्यपुराण मे किया गया है।

जीवित प्राणी की देहत्यागानन्तर क्या गति होगी ? इसका निरूपण गरुडपुराण मे किया गया है। देहत्यागानन्तर प्राणी को क्या फल मिलेगा ? इसे ही, उस फल के उत्तरकालभावी होने से आयति शब्द से व्यपदिष्ट किया है।

सृष्टि के आयतनरूप पञ्चम विषय का प्रतिपादन ब्रह्माण्ड-पुराण मे किया गया है।

उपर्युक्त रीति से सृष्टिरूप पुराण लक्षण मे भी पाँच विषयो का प्रतिपादन है-।

आदि के ६ पुराणो मे सृष्टि के ६ पर्वो का निरूपण, तदनन्तर ४ पुराणों में सृष्टिकारणविषयक चार मतो का, तत्पश्चात् ६ पुराणो मे सृष्टि के ६ अवान्तर कारणो का, पश्चात् १ पुराण मे परलोकगति का तथा अन्तिम पुराण मे सृष्टि के आयतन का निरूपण है।

अथवा-आदिसृष्टि ६ पर्व वाली है उसका आदि के ६ पुराणो मे, मध्यम सृष्टि चार प्रकार की है उसका निरूपण आगे के ४ पुराणो में, उत्तरसृष्टि ६ प्रकार की है उसका निरूपण आगे के ६ पुराणो में, प्रेतसृष्टि का प्रतिपादन तदुत्तरवर्ती पुराण मे तथा सृष्टिस्थान का निरूपण अन्तिम पुराण मे है। इस रीति से सृष्टि के विभिन्न तत्वो के प्रतिपादक १८ अवयवो वाली एक पुराणसहिता या पुराणशास्त्र है।

प्रतिसृष्टि

प्रतिसृष्टिरूप पुराणलक्षण भी शास्त्रावतरण, कल्पशुद्धि, सृष्ट्युपसहार, ज्योतिश्चक्र तथा भुवनकोश भेद से पञ्चविध है या

पञ्चलक्षणात्मक है। त्रैलोक्यरूप विश्व का विज्ञान, ज्योतिश्चक्र (खगोलविज्ञान), भुवनकोश (भूगोलविज्ञान) प्रासङ्गिक तथा वशावली भेद से भी पुराण पांच प्रकार का है। इनमे प्रश्नोत्तररूप से पठित प्रासङ्गिक—आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि भेद से चार प्रकार का है।

श्रौत व स्मार्त सिद्धान्त, आचार, धर्मभेद, नाना उपासनाभेद व नाना दर्शनभेद कल्पशुद्धि कहलाते है।

जैसा कि पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग मे श्रद्धेय गुरुवर्य ने कहा है.—

आख्यानोपाख्याने गाथा अथ कल्पशुद्धिश्च।
प्रासङ्गिकं चतुर्धा प्रश्नसमाधिप्रसङ्गतोऽधीतम् ॥
श्रौत· स्मार्तः समयश्चाचारो धर्मभेदास्ते।
नानोपासनभेदा दर्शनभेदाश्च कल्पशुद्धिरिह ॥

वशावली तीन प्रकार की है। १. स्वायभुवादि ६ मनुवंश, २. वैवस्वत मनुवंश, ३. सूर्याग्निचन्द्रभेदभिन्न वश। इसीलिए पुराण-समीक्षा में कहा है:—

स्वायभुवादिषण्मनुवंशाः, वैवस्वतोऽथ मनुवंश.।
सूर्याग्निचन्द्रभेदा त्रिविधा वंशावली ग्रन्थे ॥ इति।

ग्रहों तथा नक्षत्रों का ज्ञान, ताराविज्ञान, खगोलविज्ञान तथा तारा नदी आदि में स्मरणार्थ मानव, देव आदि के चरित्र की कल्पना ज्योतिश्चक्र कहलाता है। जैसे:—

ग्रहनक्षत्रज्ञानं ताराविज्ञानखगोलविज्ञाने।
स्मारकचरित्रक्लृप्तिर्ज्योतिश्चक्रं खगोलविद्यास्ति ॥ पु. समीक्षा

इलावृत, किम्पुरुष आदि वर्षो का विभाग, गिरि, वन, समुद्र, नदी, सरोवर, आखात (परिखा) नगर, स्थान, आवास तथा पृथ्वी का परिमाण भुवनकोश कहलाता है। जैसे —

वर्षविभागो गिरिवनसमुद्रनद्य. सरासि चाखाताः।
नगरस्थानावासा भूमितिरित्थं च भुवनकोशोऽस्ति ॥ पु समीक्षा

पुराणसमीक्षा ग्रन्थ में प्रतिसृष्टि के अनुसृष्टि तथा उत्सृष्टि भेद से दो प्रकार बतलाये हैं। उनमें अनुसृष्टि—भुवनकोश तथा ज्योतिश्चक्र भेद से द्विविध है। जैसे—

अनुसृष्टिरुत्सृष्टिश्चेति द्विविधा प्रतिसृष्टिरीरिता ।
भुवनकोशो ज्योतिश्चक्र चेति द्विविधा अनुसृष्टि· ।।

इसी प्रकार धर्मानुसृष्टिलक्षण सृष्टि भी प्रतिसृष्टि है ।

इसीलिए प्रकारान्तर से प्रतिसृष्टि के भेद वतलाते हुए गुरुवर्य ने धर्मानुसृष्टिलक्षण सृष्टि को भी प्रतिसृष्टि का एक भेद स्वीकार किया है । प्रकारान्तर से प्रतिसृष्टि के ५ भेद निम्नलिखित है—

१. प्रतिसञ्चरलक्षण प्रतिसृष्टि ।
२. त्रिविध (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) वन्ध से उन्मुक्तिरूप प्रतिसृष्टि ।
३. भुवनकोशानुसृष्टिलक्षण प्रतिसृष्टि ।
४. ज्योतिश्चक्रानुसृष्टिलक्षण प्रतिसृष्टि ।
५. धर्मानुसृष्टिलक्षण प्रतिसृष्टि ।

पुराणसमीक्षा के निम्न श्लोक में इन्ही पञ्चविध प्रतिसृष्टियों को पञ्चलक्षण पुराण कहा है—

ज्योतिश्चक्रं भुवनकोश प्रतिसञ्चर एव च ।
धर्मशुद्धिर्वन्धमोक्ष. पुराण पञ्चलक्षणम् ।।

वंश

वशरूप पुराणलक्षण भी—ऋषिवंश, पितृवंश, सूर्यवश, चन्द्र-वश, अग्निवश भेद से पञ्चलक्षणात्मक है ।

वंश्यानुचरित

वश्यानुचरितरूप पुराणलक्षण भी—ऋषिचरित, देवयोनि-चरित, सूर्यवशचरित, चन्द्रवशचरित, अग्निवशचरित भेद से पञ्चलक्षणात्मक है ।

इस प्रकार वेद मे विद्यमान, नाना विभाग युक्त पाँचो विद्या-विभागो का निरूपक पुराणशास्त्र है ।

मन्वन्तरविभागे	सृष्टिविभागे	प्रतिसृष्टिविभागे	वंशविभागे	वंश्यानुचरितविभागे
युगम्	सृष्टि. प्रथमा षट्पर्वा	ज्योतिश्चक्रम्	ऋषिवंश	ऋषिचरितम्
दिव्ययुगम्	सृष्टिर्मध्यमा चतुर्विधा	शास्त्रानुव्यूह:	पितृवंश.	देवयोनिचरितम्
नित्यकल्प	सृष्टिरुत्तरा षड्विधा	भुवनकोश:	सूर्य्यवंश.	सूर्य्यवंशचरितम्
सप्तकल्पा	सपरायसृष्टि.	कल्पशुद्धि.	चन्द्रवंश.	चन्द्रवंशचरितम्
त्रिंशत्कल्पा:	सृष्टीनामायतनम्	सृष्ट्युपसंहार	अग्निवंश	अग्निवंशचरितम्

एषां विद्याविभागानां पञ्चानां वेदवर्तिनाम् ।
नानाभक्तिविभक्तानां पुराणं नाम कल्पते ।।

इति पौराणिकपञ्चलक्षणनिरुक्ति ।

पौराणिक आयुर्विचार

वेदार्थ के प्रकाशक पुराणो मे कुछ ऐसी बातो का निरूपण है जिनके कारण लोगो की उन पर अश्रद्धा हो जाती है तथा उन्हे अप्रामाणिक या गप्प ग्रन्थ कह देते है। उन्ही बातो मे मनुष्यो की बहुत अधिक आयु का प्रतिपादन भी है। जैसे 'षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परम तप.' इस वचन में ऋषि ने ६० हजार वर्ष तपस्या की। ऐसे ही जब विश्वामित्र राक्षसो से अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम व लक्ष्मण को मागने को आये उस समय 'षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक' अर्थात् ६० हजार वर्ष की आयु बीतने पर मुझे ये पुत्र प्राप्त हुए है, यह दशरथ की उक्ति। इसी प्रकार राम के राज्यकाल का निरूपण करते हुए रामायण मे लिखा है—

> दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
> भ्रातृभि. सहित श्रीमान् रामो राज्यमचीकरत्॥

अर्थात् राम ने ११ हजार वर्ष तक पृथिवी पर राज्य किया। उपर्युक्त वचनो मे मनुष्य की आयु हजारो वर्षो की बतलाई गई है। जबकि मनुष्य की इतनी आयु न किसी प्रमाण से सिद्ध है और न अनुभव-सिद्ध ही है। अत· आर्यसमाजी विद्वानो ने तथा उनके अनुयायी विद्वानो ने पुराणो को गपोड ग्रन्थ की सज्ञा दे दी है और उन्हे अप्रामाणिक व अनार्ष ग्रन्थ मान लिया है। किन्तु वस्तुत बात ऐसी नही है। पुराण आख्यानो व विभिन्न चरित्रो के वर्णन द्वारा वेदार्थ के उपबृहक व परिपोषक माने गये है। भगवान् वेदव्यास ने जब यज्ञकर्म मे विनियुक्त विभिन्न ऋत्विजो के कार्य की दृष्टि से तथा बुद्धिमान्द्य के कारण वृहद् वेद ग्रन्थ का एक मनुष्य के द्वारा पूर्णरूप से अध्ययन अशक्य होने से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद भेद से उसे चार भागो मे विभक्त कर दिया और उन वेदो को क्रमश पैल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमन्तु को पढाया। किन्तु जिन लोगो को 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा' इस वचन के अनुसार वेदाध्ययन का अधिकार नही था उन स्त्री, शूद्र और द्विजबन्धुओ के लिए वेदार्थज्ञान के लिए वेदार्थप्रकाशक पुराणसहिता का निर्माण किया और उसका अध्यापन लोमहर्षण को करवाया।[1] इससे स्पष्ट

---

१. पराशरसुतो व्यास कृष्णद्वैपायनोऽभवत्।
स एव सर्ववेदाना पुराणाना प्रदर्शक॥

सिद्ध है कि पुराण व इतिहास भी वेदार्थ के ही प्रकाशक है। इसीलिए अभियुक्तों ने कहा है—

इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामय प्रहरिष्यति ।। इति ।।

वेदों की तरह पुराणो के भी वेदार्थ का प्रतिपादक होने से अप्रामाणिक तथा अश्रद्धेय नही माना जा सकता। किन्तु उनमे जो चीजे अप्रामाणिक प्रतीत होती है उसका कारण पुराणो की परिभाषा का न जानना ही है। परिभाषाओं को न जानने के कारण पुराणों मे वर्णित कुछ बाते अप्रामाणिक व अश्रद्धेय प्रतीत होती है।

प्रत्येक शास्त्र में कुछ स्वशास्त्रसकेतित परिभाषाये होती है। उस शास्त्र के सम्यक् परिज्ञान के लिए उन परिभाषाओं का ज्ञान अत्यावश्यक है। जैसे न्याशास्त्र मे गुणशब्द द्रव्याश्रित तत्त्व को बतलाता है और साख्यशास्त्र में गुणशब्द जगत् के उपादानभूत सत्व, रज व तम इन द्रव्यो को बतलाता है न कि द्रव्याश्रित तत्त्व को। क्योंकि साख्यशास्त्र के अनुसार सकल प्रपञ्च का उपादान कारण प्रकृति है। और प्रकृति सत्व, रज, तम इन तीन गुणो की समष्टि ही है। अत साख्यशास्त्र के अनुसार सत्वादि तीनों गुण जगत् के उपादानभूत द्रव्य है। इसी प्रकार पुराणशास्त्र की भी अपनी परिभाषाएँ हैं। उनके ज्ञान के विना पुराणशास्त्र का सम्यग् बोध नही हो सकता।

पुराणो मे प्रतिपादित मनुष्यो की व ऋषियो की आयु के सम्बन्ध मे भी यही नियम लागू होता है। पुराणो में मनुष्यो की जो हजारो वर्षो की आयु बतलाई है उसमे वर्ष शब्द का पुराणशास्त्र-सकेतित पारिभाषिक अर्थ है। उसका ज्ञान हो जाने पर उसका सम्यग्वोध हो सकता है और आधुनिक लोग जो पुराणों पर

अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदपारगान् ।
जैमिनिं च सुमन्तु च पञ्चम मा महामुनिः ।।
ऋग्वेदपाठक पैल जग्राह स महामुनि ।
यजुर्वेदप्रवक्तार वैशम्पायनमेव च ।
जैमिनिं सामवेदस्य पाठक सोऽन्वपद्यत ।।
तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम् ।
इतिहासपुराणानि प्रवक्तु माम् (लोमहर्षणम्) प्रयोजयत् ।।

आयुर्विषयक आक्षेप करते है उसका पूर्णतया परिहार हो जाता है। इस प्रकरण मे उसी पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

मनुष्य की आयु साधारणतया १०० वर्ष की मानी गई है "शतायुर्वै पुरुष.," "पश्येम शरद शतम्, जीवेम शरद शतम्"

'शतं जीव शरदो वर्धमान. शत हेमन्तान् शतमु बसन्तान्।
शतमिन्द्राग्नी सविता वृहस्पति शतायुषा हविषेम पुनर्दु'॥

इत्यादि श्रुतिवचन तथा आशीर्वादवचन 'मनुष्य की आयु १०० वर्ष की होती है' इसी बात को सिद्ध कर रहे है।

कितने ही विद्वान् 'अपि हि शताद् भूयासि वर्षेभ्यो जीवति' इस श्रुति का प्रमाणरूप से उपन्यास करते हुए हजारो वर्ष मनुष्य की आयु सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास अविचारपूर्ण है, क्योकि ऐसा मानने मे उपर्युक्त श्रुतिवचनो का एव लौकिक अनुभव का विरोध होता है। और 'शताद् भूयासि वर्षेभ्यो जीवति' यह श्रुति भी मनुष्य सौ वर्ष से अधिक जी सकता है इसी बात को वतला रही है न कि मनुष्य की आयु १००० वर्ष की होती है इस बात को सिद्ध कर रही है। इसीलिये ऐतरेय श्रुति मे 'स ह षोडश वर्षशतमजीवत्' इस वचन के द्वारा ११६ वर्ष अर्थात् १०० से कुछ अधिक वर्ष का जीवनकाल ही महिदास का बतलाया गया है न कि १००० वर्ष का। लौकिक अनुभव भी इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इसके अतिरिक्त—"सवत्सरशत नणा परमायुर्निरूपितम्"(भागवत स्कन्ध ३, अ० १११, श्लोक १२) "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा, (ईशोपनिषद्) इत्यादि श्रुतिस्मृतियाँ भी मनुष्य को शतायु ही सिद्ध कर रही है।

'शतं जीव शरदो वर्द्धमान, इत्यादि श्रुतियो मे शत शब्द को असंख्यातवाची मानकर मनुष्य की १००० वर्ष की आयु सिद्ध करने का प्रयास भी नितान्त अविवेकपूर्ण है, क्योकि शत का असख्यात अर्थ प्रमाणविरुद्ध है एव शब्दशक्तिविरुद्ध भी है। अत मनुष्य की आयु किसी भी दशा में एक हजार वर्ष की नही होती। इसीलिये तापश्चितसत्रब्राह्मण मे 'उप त यज्ञक्रतु जानीत य सहस्रसवत्सरस्य प्रतिमा ? को हि तस्मै मनुष्यो य सहस्रसवत्सरेण समाप्नुयात्'। इस वचन के द्वारा सहस्रसवत्सरसाध्य यज्ञ की समाप्ति मनुष्य नही कर सकता यह वतलाया है।

कुछ व्यक्ति ऐसा मानते है कि 'शतायुर्वै पुरुष.' यह श्रुति मनुष्य की १०० वर्ष की आयु वतला रही है, किन्तु यह कलियुग मे मनुष्यो की आयु है। कृतादियुगो मे मनुष्य की आयु इससे बहुत अधिक होती थी। क्योकि युगभेद से मनुष्यो की आयु मे न्यूनाधिकता होती रहती है। इसीलिये भगवान् मनु ने कृतादियुगभेद से मनुष्यो की आयु भिन्न भिन्न वतलाई है।[1] तथा मनुष्य की सौ वर्ष की आयु कलियुग मे ही सिद्ध की है। कृतादियुगों में क्रमश मनुष्य की आयु ४००, ३००, २०० वर्ष की वतलाई है। और भले ही साधारण मनुष्यों की आयु १०० वर्ष की ही क्यो न हो किन्तु मनुष्य ऋषियो की आयु हजारो वर्ष की हो सकती है। किन्तु उनका यह कथन भी प्रमाण की कसौटी पर कसने से अप्रामाणिक ही ठहरता है, क्योंकि अन्यत्र श्रुतियो, स्मृतियों व लोक में कही भी ४०० वर्प की आयु मनुष्य की उपलब्ध नही होती। अत अन्य श्रुतिस्मृतियो के विरुद्ध होने के कारण मनु वचन को युगधर्मप्रशसापरक मानना चाहिये। या उसका दूसरा अभिप्राय मानना चाहिये। अथवा योगमहिमा से योगियो की ४०० वर्प की आयु मानी भी जा सकती है किन्तु १००० वर्ष की आयु तो मनुष्य की किसी भी तरह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही हो सकती। इस विपय मे भगवान् जैमिनि व भाष्यकार शाबर का मत भी नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

वेदप्रतिपादित सहस्रसवत्सरसाध्य सत्र की समाप्ति मनुष्य द्वारा अशक्य होने से पूर्व मीमासा में भगवान् जैमिनि[2] व भगवान् भाष्यकार शवरस्वामी ने उस सत्र मे देवगन्धर्वादियों का अधिकार वतलाया है—और इस विषय[3] मे श्रुति का भी प्रमाणतया उपन्यास किया है। इस तरह समाधान करने के बाद वस्तुत' यज्ञादिविधायक शास्त्र मनुष्यो के लिये ही प्रवत्त हुआ है अत उसमें मनुष्य का ही अधिकार

---

१. अरोगा सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुप. ॥
कृते त्रेतादिपु ह्येपायायुर्ह्रसति पादश. ॥
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ॥
फल त्वनुयुग लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥

२ सहस्रसवत्सर तदायुपामसम्भवान्मनुष्येषु। मीमासासूत्र ६ अ०

३. "प्रजापर्ति वै प्रजा सृजमान पाप्मा मृत्युरभिजघान। स तपोऽतप्यत सहस्रसवत्सरान् पाप्मान विजिहासन्"। इति।

होना चाहिये, इस तरह सहस्रसवत्सरसाध्य सत्र में भी मनुष्यो का ही अधिकार बतलाया है। किन्तु ऐसा मानने पर यह आपत्ति आती है कि मनुष्यो की इतनी दीर्घ आयु होती नही जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। आयुर्वेद मे प्रतिपादित्त रसायनादिप्रयोग भी अग्नि के वढाने मे व वलीपलिततादि के नाश करने मे एव सुन्दरवर्ण, प्रसन्नता आदि के सम्पादन करने मे ही समर्थ है न कि आयुर्वर्द्धन मे। यदि उनसे आयु की वृद्धि होती तो 'शतायुर्वै पुरुष' इत्यादि श्रुति पुरुप की आयु १०० वर्ष की न बतलाती। इसलिये च्यवनादि के उपाख्यान मे इतना ही वर्णन मिलता है कि वे रसायन-सेवन मे वृद्ध से युवा बन गये। अर्थात् उनके शरीर मे वृद्धावस्था के धर्म वलीपालित्यादि नष्ट हो गये। किन्तु उनकी अवस्था वढ गई ऐसा वर्णन नही मिलता। यदि कही रसायनादिसेवन से किसी पुरुष की आयु-र्वृद्धि होती तो उस विशेपदर्शन से अन्यत्र भी 'रसायनादि आयुर्वृद्धि के कारण है' इसका अनुमान कर लिया जाता, परन्तु ऐसा कही देखा नही गया है। और फिर रसायनादि से आयु की वृद्धि मानी भी जाय तो थोड़ी वहुत मान सकते है। हजारो वर्ष की आयु तो रसायनादि से किसी प्रकार वढ नही सकती। इसीलिए "शतान्यायु यस्य स" ऐसा विग्रह मानकर सैकडो वर्ष जिसकी आयु होती है उसे शतायु कहते है इस प्रकार शतायु का अर्थ मानकर भी "शतायुर्वै पुरुष" इस श्रुति से मनुष्यो को हजारो वर्ष की आयु नही मान सकते क्योकि वैयाकरण द्विवचनान्त बहुवचनान्तो का समास ही नही स्वीकार करते है। अत किसी भी प्रकार मनुष्य की सहस्र वर्ष की आयु सिद्ध न होने से सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्रादि मे मनुष्य का अधिकार किस तरह हो सकता है? यह शका बनी रहती है।

इसका उत्तर मतभेद से जैमिनि ने दिया है। मनुष्य की सहस्रवर्ष की आयु न होने पर भी एक व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ किये गये सहस्रसवत्सरसाध्य सत्रादि की पूर्ति वही व्यक्ति नही करता, किन्तु उसके उत्तराधिकारी तद्वशीय पुत्रादि करते है। अत. कुल की अपेक्षा से सहस्रसंवत्सर साध्य सत्र का विधान है न कि एक व्यक्ति की अपेक्षा से। ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते है।

सहस्रसवत्सरसाध्य सत्र के सौ वर्ष की आयु वाले मनुष्य द्वारा साध्य न होने से मनुष्य के लिये उसका विधान करना अनुचित है

अत यहां पर सवत्सरशब्द को सौराब्दपरक न मानकर लक्षणावृत्ति से चान्द्राब्द, नाक्षत्राब्द व पार्थिवाब्द में से अन्यतमपरक स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसा लाबुकायन आचार्य का मत है।

उनका तात्पर्य यह है कि सवत्सर का प्रयोग सौर संवत्सर ३६० दिन की तरह सावनाब्द, चान्द्राब्द (३०) नाक्षत्राब्द (२८ दिन) व पार्थिवाब्द (दिन रात) तथा दिन मे भी होता है। जैसे 'यो वै मास स सवत्सर.' इस श्रुति मे मास को सवत्सर बतलाया गया है। 'द्वादश वै रात्रय. सवत्सरस्य प्रतिमा' इस श्रुति में द्वादशाह के लिये संवत्सर शब्द का प्रयोग हुआ है, और 'आदित्यो वा सर्व ऋतव' स यदैवोदेत्यथ वसन्तो, यदा सगवोऽथ ग्रीष्मो, यदा माध्यन्दिनोऽथ वर्षा', यदाऽपराह्णोऽथ शरत्, यदाऽस्तमेत्यथ हेमन्तशिशिरो' इस श्रुति मे दिन मे ही कालभेद से ६ ऋतुओं की स्थिति बतलाकर दिन को ही षड्ऋतुमय सवत्सर सिद्ध किया है। इस तरह सवत्सरशब्द अनेकार्थक व अनियतार्थक है। इसके विपरीत सहस्र आदि शब्द एकार्थक व नियतार्थक है। सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्र मे दोनों शब्दो के वाच्य अर्थ की अनुपपत्ति होने से एक को लाक्षणिक (अन्यार्थक) मानना पडेगा। वहा नियतार्थक सहस्रादि शब्दो को लाक्षणिक मानने की अपेक्षा अनियतार्थक अतएव विचाली सवत्सरशब्द को ही लाक्षणिक मानना उचित है। अतः सवत्सरशब्द को यहां सौरसंवत्सरपरक न मान कर चान्द्रसवत्सरपरक अथवा पार्थिवसवत्सरपरक अथवा नाक्षत्रसवत्सर-परक मान कर सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्र का मनुष्य द्वारा अनुष्ठान मान लेना चाहिये, ऐसा लाबुकायन आचार्य का अभिमत है।

किन्तु उपर्युक्त रीति से सवत्सर शब्द को लक्षणावृत्ति से अन्यार्थक मानने पर भी चान्द्रादि सवत्सरो मे से किस अर्थ का बोधक इसे माना जाय यह संशय बना रहता है। प्रकरण द्वारा भी इसका निर्णय नही हो सकता, क्योंकि यहा एक ही अर्थ प्रकरणसिद्ध नही है, किन्तु मास, द्वादशाह व एकाह सभी अर्थ प्राकरणिक है जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है। इस शका का समाधान करते हुए जैमिनि ने कहा है कि सवत्सर शब्द को यहा दिन अर्थात् पार्थिव सवत्सर का बोधक मानना चाहिये, क्योकि वह प्राकरणिक भी है और इस सत्र मे क्रियमाण त्रिवृत्, पञ्चदश आदि स्तोमों मे त्रिवृत् आदि शब्द दिन के ही बोधक है, तथा दिनपरक मानने से ही यह सत्र

मे 'अहानि वाऽभिसख्यत्वात्' इस सूत्र के द्वारा सवत्सर शब्द को दिन-परक अर्थात् पार्थिव सवत्सरपरक ही स्वीकार किया है। और इस सहस्रवर्षसाध्य सत्र मे शतायु पुरुषो का अधिकार बन जाता है।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि मनुष्यो की आयु १००० वर्ष की नही हो सकती। अन्यथा जैमिनिकृत उपर्युक्त शका समाधान व्यर्थ होते। अत जहाँ पर वसिष्ठादि ऋषियो के लिये हजारों वर्ष की तपश्चर्या का वर्णन मिलता है वहा सवत्सर शब्द को दिन का बोधक ही मानना चाहिये। ऐसे स्थलो मे सवत्सर शब्द को दिनपरक मानने से 'षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परम तप' इत्यादि वाक्यों में ८½ वर्ष का तपस्याकाल सिद्ध होता है क्योकि 'षष्टिवर्ष-सहस्राणि' शब्द बहुवचनान्त है और बहुवचनान्त मे सर्वप्रथम त्रित्व (तीन) सख्या आती है, अतः प्रथम प्राप्त होने से उसे ही स्वीकार कर लिया जाता है।

इस तरह 'वर्षसहस्राणि' शब्द ३००० सख्या का बोधक है। 'षष्टिवर्षसहस्राणि' समस्त पद होने से 'षष्टि' शब्द का 'वर्षसहस्राणि' पद के साथ 'षष्टचधिकानि वर्षसहस्राणि' ऐसा मध्यमपदलोपी तत्पुरुष समास है। जिसका अर्थ ६० अधिक तीन हजार वर्ष अर्थात् ३०६० वर्ष। जैसा कि ऊपर बतला दिया गया है कि यहाँ वर्ष शब्द पार्थिव वर्ष अर्थात् दिन का वाचक है। अत ३०६० वर्ष का अर्थ है ३०६० दिन। ३०६० दिनों को सौर वर्ष बनाने के लिए ३०६० मे ३६० का भाग देना होता है। और इस प्रकार षष्टिवर्षसहस्राणि का अर्थ ८ वर्ष ६ मास है। इतने ही वर्षो का तपस्याकाल वसिष्ठ का सिद्ध होता है।

इसी तरह "दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च" इस रामायण-वाक्य मे उपर्युक्त रीति से सवत्सर शब्द को अह परक मानने से राम-

---

+३६०)३०६०(८ वर्ष
२८८०
३०) १८०(६ मास
१८०
×

राज्यकाल ३० वर्ष ६ मास २० दिन का सिद्ध होता है, क्योंकि कुल मिलाकर ११००० वर्ष राज्यभोगकाल रामायण मे राम का बतलाया गया है और वहाँ वर्ष शब्द के दिन का वाचक होने से ११००० दिन राज्यकाल सिद्ध होता है, और ११००० दिन के ३० वर्ष ६ मास २० दिन होते है। किन्तु 'षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक'। इस रामायणवाक्य मे वर्ष शब्द अहोरात्र का वाचक है और अहोरात्र पार्थिव सवत्सर है अत इस मे भी वर्षशब्द का प्रयोग बन ही सकता है। यहाँ षष्टि शब्द पृथक् है और वर्षसहस्र शब्द पृथक् है और षष्टि शब्द वर्षसहस्रशब्द का विशेषण है। वर्षसहस्र का अर्थ १ हजार वर्ष है और षष्टि (६०) को उसका विशेषण मानकर १००० से ६० को गुणा करने पर ६०००० वर्ष का काल सिद्ध होता है। वर्ष शब्द यहाँ अहोरात्र का वाचक है। अत विश्वामित्र जब रामचन्द्र को यज्ञरक्षार्थ ले गये थे उस समय कुल मिलाकर ६०००० हजार अहोरात्र दशरथ की आयु सिद्ध होती है। इनमें तीस हजार दिन और तीस हजार रात है। अत कुल ३०००० दिन ही दशरथ की आयु सिद्ध होती है, और* ३०००० दिन के केवल ८३ वर्ष होते है इस तरह उस समय दशरथ की आयु ८३ वर्ष ४ मास की थी, यह उपर्युक्त रामायणवाक्य का अर्थ है। पार्थिव सवत्सर दिन रात का होता है क्योंकि पृथ्वी एक दिन रात में ही सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र का भोग कर लेती है और सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र का भोग ही सवत्सर शब्द का अर्थ है। इसीलिये बृहस्पतिसवत्सर, सूर्यसवत्सर व पार्थिवसवत्सर आदि परस्पर मे विभिन्न परिमाण के है, क्योंकि उनका सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र-भोगकाल परस्पर मे विभिन्न है। जैसे सूर्य उसी नक्षत्रचक्र का भोग ३६० दिनो मे करता है, चन्द्रमा २८ दिनो मे और पृथिवी दिन रात मे। इस तरह पार्थिव सवत्सर दिन रात का है, परन्तु कही दिन रात

= ३६०)११०००(३० वर्ष
१०८००
३०) २०० (६ मास
१८०
२० दिन

* ३६०)३००००(८३ वर्ष
२८८०
१२००
१०८०
३०)१२०(४ मास
१२०
×

को मिलाकर अर्थात् एक मानकर उनका निर्देश किया गया है— जैसे 'षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परम तप' इस वाक्य मे। और कही पर उनको पृथक् पृथक् मानकर निर्देश किया जाता है—जैसे 'षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक' इस वचन मे। अत यहाँ पर वर्षपरिगणन करते समय हमे उनको आधा करना पड़ता है, क्योकि वह सख्या दिन रात दोनो को मिला कर होती है, और पार्थिव सवत्सर चूकि दिन रात का एक होता है अत उस सख्या का आधा करना आवश्यक है।

इस तरह वर्ष शब्द अनेकार्थक है। पौराणिको ने भी उसका भिन्न-भिन्न अर्थो मे प्रयोग किया है अत पुराणो का अर्थ करते समय उसका ठीक विचार कर जहाँ जो सगत हो उसी अर्थ का बोधक वर्षादि शब्दो को मानना चाहिये। इस तरह मनुष्य महर्षियो का जहाँ हजारो वर्ष का तपस्याकाल बतलाया गया है उस जगह पार्थिव सवत्सर का ग्रहण करना चाहिये। और यदि सौरसवत्सर मानकर ही इन वचनो का समन्वय करना अभीष्ट हो तो असल्लक्षण नित्य प्राण ऋषियो का ग्रहण करना चाहिये न कि तत्प्राणद्रष्टा मनुष्य ऋषियो का। यही निष्कर्ष आधिदैविकाध्याय के आयुर्दायचिन्ताधिकार मे बतलाया गया है।

पौराणिक असदाख्यान

पुराणो मे, आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिकादिभेद-भिन्न ८ प्रकार के आख्यानो का निरूपण है। इन ८ प्रकार के आख्यानो का उल्लेख, शाशपायन ने स्वप्रणीत पुराणसहिता मे भगवान् वेदव्यास व उनके शिष्य लोमहर्पण द्वारा प्रणीत पुराण-सहिताओ मे निरूपित विषयो से अतिरिक्त आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि इन चार विषयो का जो सनिवेश किया है, उनका प्रतिपादन करते हुए किया जा चुका है। इन्ही आठ प्रकार के आख्यानो मे एक प्रकार का आख्यान असदाख्यान भी है। जिसको Mythology (मिथ्या कल्पित आख्यान) कहते है। इस असदाख्यान मे आकाशमण्डलस्थ नक्षत्रो मे से किसी को सर्प, किसी को ब्रह्मा, किसी को इन्द्र, किसी को रुद्र, किसी को बृहस्पति मान कर ब्रह्मा, रुद्र, आदि प्राणदेवताओ के विज्ञान को सरलता से समझाने के लिए इन नामो की नक्षत्रो पर कल्पना की गई है। इन मिथ्या कथाओ से आकाश-

मण्डलस्थ नक्षत्रों का ज्ञान, उन नक्षत्रों के गुणों का ज्ञान, धार्मिक महर्षियो के चरित्र का ज्ञान,तथा मन्दबुद्धि बालको को सरलता से गूढ विज्ञान का अवबोध हो जाता है। किन्तु इन कल्पित मिथ्या आख्यानो को पढ कर मानव मे अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इसी आधार पर कतिपय पुरुषो ने उन्हे गप्प मान लिया है और वे पुराण को अश्रद्धेय तथा अप्रमाणिक मानने लगे है।

किन्तु तात्विक दृष्टि से विचार किया जाता है तो पुराण भी वेदार्थ के प्रतिपादक तथा वेदो के गूढ रहस्य का निरूपण करने वाले हैं। इसीलिए भगवान् वेदव्यास ने मानव के बुद्धिमान्द्य को तथा एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पूर्ण वेदशास्त्र का अध्ययन उत्तरकाल मे सम्भव नही है इस तथ्य को ध्यान मे रखकर पुरातन एक ही वेदसहिता का यज्ञ मे भिन्न-भिन्न ऋत्विजो के हौत्रादि कर्मो के अनुरोध से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद इन चारसहिताओ में विभक्त कर उन सहिताओ का अध्यापन क्रमश पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, सुमन्तु इन चार शिष्यो को करवाया। उसी प्रकार 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' इस वचन के अनुसार स्त्री शूद्र व द्विजबन्धुओ को वेदाध्ययन का अधिकार न होने से उन को वेदार्थज्ञान कराने के लिए पञ्चम पुराणसहिता का निर्माण किया तथा उसे लोमहर्षण को पढाया।[1]

वस्तुत पुराण वेदार्थ के उपबृंहक व वेदार्थ के उद्घाटक है। इसीलिए भगवान् वेदव्यास ने कहा है—

---

१ पराशरसुतो व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽभवत्।
स एव सर्ववेदाना पुराणाना प्रदर्शक ॥
अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदपारगान्।
जैमिनि च सुमन्तु च वैशम्पायनमेव च ॥
पैल तेपा चतुर्थं च पञ्चम मा (लोमहर्पण) महामुनि ।
ऋग्वेदपाठक पैल जग्राह म महामुनि ॥
यजुर्वेदप्रवक्तार वैशम्पायनमेव च।
जैमिनि सामवेदस्य पाठक सोऽन्वपद्यत ॥
तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्।
इतिहासपुराणानि प्रवक्तु मामयोजयत् ॥

इतिहासपुराणाभ्या वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामय प्रहरिष्यति ।।

अत पौराणिक असदाख्यान पुराण मे अश्रद्धा व अप्रामाणिकता के कारण नही है । यह आवश्यक है कि उन असदाख्यानो को समझने के लिए उनमे प्रतिपादित रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया जाय । एक उदाहरण के द्वारा उपर्युक्त तथ्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है । वह आख्यान निम्नलिखित है—

एक बार भगवान् प्रजापति ने मृगरूप धारण कर सभोगार्थं अपनी पुत्री का अनुधावन किया । जब प्रजापति को मृगरूप से अपने पर आक्रमण करते देखा तव वह भयभीत होकर मृगी का रूप धारण कर वहाँ से भगी । देवताओ ने इस घटना को देखा तो उन्होंने परस्पर विचार किया कि यह प्रजापति वडा अनुचित कार्य कर रहा है क्योकि यह हमारी वहिन के साथ सभोग करने के लिए उद्यत हो रहा है । अत इसे मार देना चाहिए । यह विचार कर सारे देवता भगवान् रुद्र के पास गये और उन से कहा कि—हे पशुपति ! प्रजापति अपनी पुत्री से वलात्कार करना चाहता है । अत इसे इस अनुचित कार्य के लिए दण्ड दीजिए । तव भगवान् पशुपति रुद्र ने कहा—कि मै इन्हे दण्ड देने में असमर्थ हूँ । तव सभी देवताओ ने अपना तेजोभाग एकत्र सचित कर रुद्र को दिया । उस तेज के करण वलवान् बन कर रुद्र ने रोहिणी पर आक्रमण करने वाले प्रजापति के मस्तक को काट गिराया । परन्तु इस आख्यान का प्रयोजन आकाश के विशेष प्रदेश मे स्थित नक्षत्रो का तथा उनके गुण धर्मादि का परिज्ञान कराना ही है । इसका रहस्य निम्नलिखित है—

प्रकृत असदाख्यान कृत्तिका नक्षत्र से पूर्व, लुब्धकवन्धु नक्षत्र से पश्चिम, शशलाञ्छनापरपर्याय चन्द्रमा से एव श्याव व शवल नामक दो श्वानो से उत्तर तथा प्रजापति और पुनर्वसु से दक्षिण तक का जो आकाशमण्डल है एव इस आकाशप्रदेश मे जितने तारे हैं उन पर प्रजापति आदि देवताओ की कल्पना पर वनाया गया है । कृत्तिका नक्षत्र से पूर्व चमकते हुए तथा लाली लिये हुए शकटाकार जो पाँच तारे है इन्ही पर रोहिणी की कल्पना की गई है । रोहिणी से पूर्व मे १०, १५ तारो का एक समूह है जो कि मस्तक

के आकार का प्रतीत होता है, वही मृगाशिरा नक्षत्र है। इस पर प्रजापति के मस्तक की कल्पना की गई है। इस मृगशिरा के पास तीन चमकते हुए तारे है इन्ही पर त्रिकाण्ड बाण की कल्पना है। इससे पूर्व की ओर थोडी दूरी पर एक प्रकाशयुक्त तीव्र तारा है जिसे कि लुब्धक-वन्धु कहते है। इस पर पशुपति की कल्पना है। इस प्रकार यह आख्यान उपर्युक्त आकाशमण्डल के विशेपप्रदेशस्थ ताराओ का ज्ञान करा रहा है।

इस आख्यान में प्रजापति का रोहिणी के पीछे दौडना (अनुधावन) वतलाया है। इसका तात्पर्य यही है कि आकाश मे नक्षत्र दृश्यमण्डल के अनुसार प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम की ओर जाते हुए दिखाई देते है। पहिले अश्विनी जाता है। उसके बाद भरणी, तदनन्तर कृत्तिका, तत्पश्चात् रोहिणी और वाद मे रोहिणी के पीछे मृगशिरा नक्षत्र जाता है। नक्षत्रो के इस गतिक्रम के आधार पर ही प्रजापति रोहिणी के पीछे दौडा, यह कहा गया है। आकाश-मण्डलस्थ तारे देवतास्थानापन्न है। उन देवताओ ने अपना तेज रुद्र (लुब्धकवन्धु) को दिया, उसका तात्पर्य यह है कि सभी नक्षत्रो मे भिन्न-भिन्न प्रकार का रस है। किन्तु जैसे गूलर मे सभी वनस्पतियो का रस रहता है उसी प्रकार लुब्धकवन्धु में सभी नक्षत्रों का रस, तेज विद्यमान है।

इस असदाख्यान का रहस्य ऐतरेय ब्राह्मण मे स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है। पाठको के परिज्ञान के लिए उसको यहाँ अविकल रूप में उद्धृत किया जा रहा है.—

'प्रजापतिर्वै स्वा दुहितरमभ्यध्यायत्-दिवमित्यन्य आहु-रुपसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहित भूतामभ्यैत्। त देवा अपश्यन्नकृत वै प्रजापति करोतीति। ते तमैच्छन् य एनमारि-ष्यति। एतमन्योन्यस्मिन् नाविन्दन्। तेषा या एव घोरतमा-स्तन्व आसस्ता एकधा समभरन्। ता सभृता एष देवोऽभवत्, तदस्यैतद् भूतवन्नाम इति। त देवा अब्रुवन्, अयं वै प्रजापतिर-कृतमक, इम विध्येति। स तथेत्यब्रवीत्। स वै वर वृणा इति। वृणीष्वेति। स एतमेव वरमवृणीत पशूनामाधिपत्य तदस्यैतत्प-शुमन्नाम' इति।

तमभ्यायत्याविध्यत्। स विद्ध ऊर्ध्व उद्पतत्। तमेत मृग

इत्याचक्षते । य उ एव मृगव्याध. स उ एव स । या रोहित् सा रोहिणी । यो एवेषुस्त्रिकाण्डा सो एवेषुस्त्रिकाण्डा । इति ।

तद्वा इद प्रजापते रेत सिक्तमधावत् तत्सरोऽभवत् । देवा अब्रुवन् मेद प्रजापते रेतो दुषत् इति, तन्मादुषमभवत् । तन्मादुषस्य मादुषत्वम् । मादुष ह वै नामैतद् यन्मानुषम् । तन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवा । इति । तदग्निना पर्यदधुस्तन्मरुतोऽधून्वस्तदग्निर्न प्राच्यावयत ।' 'तदग्निना वैश्वानरेण पर्यदधुस्तन्मरुतोऽधून्वस्तदग्निर्वैश्वानर प्राच्यावयत् । तस्य यद्रेतस: प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् । तद् यद् द्वितीयमासीत् तद्भृगुरभवत् । त वरुणो न्यगृह्णीत तस्मात् स भृगुर्वारुणि । अथ यत् तृतीयमदीदेदिव त आदित्या अभवन् । येऽङ्गारा आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् । यदङ्गारा पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत् ।' इति ।

इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि प्रजापति ने अपनी पुत्री के साथ संभोग का सकल्प किया । उसने मृगी बनी हुई अपनी पुत्री का मृगरूप धारण कर पीछा किया । देवताओ ने विचार किया कि यह प्रजापति अकरणीय अर्थात् अनुचित कार्य कर रहा है । देवताओ ने ऐसे व्यक्ति की इच्छा की जो प्रजापति को ताडना दे । किन्तु ऐसा पुरुष उन्हे देवताओ मे न मिला । इसलिए देवताओ ने जो अपना घोरतम भाग था उसका एकत्र सभरण किया । देवताओ का एकत्र किया हुआ घोरतम भाग ही रुद्र बना । उसका नाम भूतवान् अर्थात् भूतपति हुआ । उस भूतपति रुद्र को देवताओ ने कहा-यह प्रजापति अनुचित कार्य कर रहा है अत इस पर प्रहार करो । रुद्र ने कहा ठीक है । किन्तु इसके बदले मैं कुछ वर मागना चाहता हू । देवताओ ने कहा मागो । उसने यही वर मागा कि मैं पशुओ का अधिपति बन जाऊँ । इसलिए रुद्र का नाम पशुमान् या पशुपति हुआ ।

वर मिलने पर पशुपति रुद्र ने प्रजापति के पास आकर उसे बाण से बीध दिया । बाण से विद्ध (कटा हुआ) प्रजापति का ऊर्ध्वभाग अर्थात् मस्तक ऊपर उछला । प्रजापति के उस कटे हुए मस्तक को मृग कहते है । अर्थात् वह मृगशिरा नक्षत्र है । जो प्रजापतिरूप मृग को मारने वाला रुद्र था वही मृगव्याध नक्षत्र है ।

जो रक्तवर्ण की मृगी थी वही रोहिणी नक्षत्र है। जिस त्रिकाण्ड वाण से प्रजापति का मस्तक काटा गया था। वही तीन तारो का समूह त्रिकाण्ड नक्षत्र है।

मृगीरूपधारिणी पुत्री का सभोगेच्छा से अनुधावन करने वाले प्रजापति का वीर्य शिरश्छेदन से पूर्व ही स्खलित हो गया था। वह अधिक होने से बहने लगा अतः उसका नाम सर हो गया। उन देवताओ ने विचार किया कि प्रजापति का यह स्खलित वीर्य दूपित न हो जाय। अत 'मा दुपत्' इस कामना के कारण उसका नाम मादुष हो गया। मादुषशब्द ही परोक्ष भाषा मे मानुष कहलाया। क्योकि देवता परोक्षप्रिय है। अत उसे मादुष न कह कर परोक्ष भाषा मे मानुष कहा गया। यह वीर्य वह न जाय इसलिए देवताओ ने उस वीर्य को अग्नि से परिवेष्टित किया। वायु ने उसमे प्रवेश कर उस तरल वीर्य को सुखाना प्रारम्भ किया, जिससे वह पिण्डरूप मे परिणत हो जाय और वह न सके। किन्तु अग्नि उसे पिण्डरूप मे परिणत न कर सकी। तव देवताओ ने वैश्वानरनामक अग्नि से उसे परिवेष्टित किया। और वैश्वानर अग्नि से परिवेष्टित उस वीर्य में वायु ने प्रवेश कर उसे सुखाना प्रारम्भ किया। वैश्वानर अग्नि ने तरलरूप मे विद्यमान प्रजापति के रेत (वीर्य) को वायु की सहायता से पिण्डरूप मे परिणत कर दिया। पिण्डाकार मे परिणत प्रजापति के वीर्य का सर्वप्रथम जो उद्दीपन हुआ वही प्रकाशमान आदित्य वना। दूसरी वार जो उद्दीपन हुआ वह परिभर्जन अर्थात् परिपाक के कारण भृगु वना। उस भृगु को वरुण ने अपने निग्रह मे ले लिया अर्थात् आवृत कर लिया। वरुण द्वारा निगृहीत होने से भृगु को वारुणि कहा जाता है। तीसरी वार जब वीर्य का अतिशय मात्रा मे वार वार उद्दीपन हुआ। उससे अन्य आदित्य वने। वीर्य का गहरा परिपाक होने से वह अङ्गारो के रूप में परिणत हुआ। वे ही अङ्गिरा कहलाये। वे अङ्गारे शान्त होकर पुन॰ जो उद्दीप्त हुए वे ही बृहस्पति वने।

इस आख्यान को आख्यानिको ने आकाश के प्रदेशविशेष से सम्वन्धित नक्षत्रों पर लगाया है अर्थात् उस विशेपप्रदेश मे विद्यमान आकाशीय नक्षत्रों का निरूपण इसमे माना है तथा नैदानिको अर्थात् निदानविद्या को जानने वाले विद्वानों ने उष काल से उपलक्षित प्रजापतिपुत्री उपा तथा उससे उत्पन्न कुमाराग्निपरक इसे माना है।

पहले हम आख्यानिकों के अनुसार आकाश के प्रदेशविशेषस्थित नक्षत्रो को लेकर इसका समन्वय कर रहे है।

आख्यानिको के अनुसार कृतिका नक्षत्र से पूर्व की तरफ का, लुब्धकबन्धु नक्षत्र से पश्चिम की तरफ का, शशलाञ्छनापरपर्याय चन्द्रमा से उत्तर की ओर का तथा प्रजापति नक्षत्र व पुनर्वसु के ताराओं से दक्षिण की ओर का जितना आकाशप्रदेश है, उसमे स्थित प्रकाशमान ताराओ मे देवप्राणियो अर्थात् देवताओ की कल्पना कर इस आख्यान की कल्पना की गई है। उसका निरूपण निम्न प्रकार से है।

कृतिका नक्षत्र से पूर्व दिशा की ओर एक चमकीला तारा है वह रक्त वर्ण का है। अत उसका नाम रोहिणी है। इसी को आख्यानविद् भृगु से उत्पन्न लक्ष्मी अर्थात् कमला कहते है। उस रोहिणी के ठीक सामने ६ नक्षत्रो की अर्थात् १८० अंश की दूरी पर एक दूसरा चमकीला नक्षत्र है उसे ज्येष्ठा, दरिद्रा या धूमावती कहते है। ये दोनो ही प्रकाशमान नक्षत्र रोहिणी ही कहलाते है। ज्येष्ठा नक्षत्र से रोहिणी नक्षत्र पर्यन्त चन्द्रमा का आरोहण होता है और आरोहण करने वाले, ऊपर जाने वाले अर्थात् उन्नति करने वाले को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है अत इस रोहिणी को लक्ष्मी-प्राप्ति का कारण होने से कमला शब्द से व्यपदिष्ट करते है। किन्तु मृगशीर्ष नक्षत्र से ज्येष्ठा नक्षत्र पर्यन्त चन्द्रमा का दक्षिणदिशागमन-रूप अवरोहण होता है। और अवरोहण अर्थात् पतन दरिद्रता का कारण है अत इस रोहिणी को दरिद्रा या धूमावती कहते है। किन्तु लक्ष्मीप्राप्ति व अलक्ष्मीप्राप्ति मे चन्द्रमा का क्रमश. आरोहण व अवरोहण होने पर भी रोहणरूप धर्म दोनों मे समान है। अत उन दोनो को ही रोहिणी कहा गया है। अपि च ज्येष्ठा नक्षत्र से उपल-क्षित आकाशप्रदेश मे स्त्रीजातीय रोहित मृग की कल्पना की गई है, इससे भी इस ज्येष्ठा नक्षत्र को रोहिणी कहा जाता है। यह ज्येष्ठारूप रोहिणी पहिले मनुष्य के आकार की थी किन्तु बाद मे स्त्रीजातीय रोहित मृग के आकार की बन गई। ब्रह्महृदयनामक तारा से उपलक्षित शरीर वाला प्रजापतिनामक नक्षत्र जो कि ईशान कोण मे है उसमे रोहिणी के पिता की कल्पना की है। प्रजापति शब्द भेड़ बकरी चराने वाले शूद्र जाति की संज्ञा है। इस प्रजापति को व्यभिचार की इच्छा से रोहिणी का अनुधावन करता देख कर आकाशमण्डलस्थ ताराओ में कल्पित देवता कुपित हुए।

और उन्होने प्रजापति के पुत्र मृगव्याध नामक रुद्र को अपने विभिन्न अनेक प्रकार के तेजो से युक्त कर उसे अतिघोर बना कर उसके द्वारा मृगरूप प्रजापति का शिरश्छेदन करवा दिया। प्रजापति का वह कटा हुआ मस्तकरूप मृगशिरा नक्षत्र, जिस वाण से काटा गया था वह उस वाण से सलग्न दक्षिण की ओर दिखाई देता है। और प्रजापति कटे हुए मस्तक वाला उत्तर की ओर दिखाई देता है। रोहिणी और बाण के बीच प्रजापति के स्खलित वीर्य से सर बन गया जिसको कि परोक्ष भापा मे मानुष कहा गया है। यह सर आधा विषुवद् वृत्त से दक्षिण दिशा मे तथा आधा विषुवद् वृत्त से उत्तर में प्रवाहित हो रहा है। इस सर से सलग्न की तरह उत्तर मे एक अग्निनामक तारा है। प्रजापति का वीर्य, जो कि अग्नि तथा वायु के कारण तरलरूप से पिण्डरूप मे परिणत हो गया था, के दो स्थूलबिन्दु अग्निसयोग से प्रज्वलित हो गये थे वे ही पुनर्वसु नाम के दो तारे है। उनमें पश्चिम की ओर का पुनर्वसु तारा आदित्य तथा पूर्व की ओर का पुनर्वसु तारा का भृगु है। भृगु ऋषिप्राण है। नीरूप सजातीय प्राण ऋपि कहलता है। उस नीरूप प्राण का विजातीय तत्व के सम्वन्ध के विना नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष नही होता। अत भृगुरूप ऋपिप्राण को विजातीय असुर प्राण वरुण ने ग्रहण किया। विजातीय वरुणरूप असुर के सम्बन्ध से उसका प्रत्यक्ष हुआ। भृगु ऋषि के वरुणरूप असुर से निगृहीत होने के कारण ही भृगु को वारुणि कहा है।

यद्यपि ऋपिनाम से प्रसिद्ध सभी द्युलोकस्थ ताराओ मे न्यून वा अधिक मात्रा में देवताओं के वीर्य का सम्वन्ध रहता है। क्योकि उनके सम्वन्ध के विना उन तारारूप प्राणो का प्रत्यक्ष नही हो सकता। तथापि वरुणरूप असुर या देवता भृगु का ही निग्रह करता है अर्थात् उसी से सम्बन्ध रखता है अन्य से नही। इसी वैशिष्ट्य को वतलाने के लिए भृगु को ही वारुणि कहा गया है। लुब्धकवन्धु नक्षत्र तक स्थित वक्रदण्ड की तरह प्रतीत होने वाले तीन तारे आदित्य कहलाते हैं। और उन तीनों ताराओं से भिन्न अतिसूक्ष्म दृश्य व अदृश्य तारे अङ्गिरा कहलाते है। उनमे एक अत्यन्त चमकीला तारा लुब्धकवन्धु नाम का वृहस्पति तारा है। मृग-व्याधरूप रुद्र तथा रोहिणी के वीच अनेक, प्रजापति के रेत के विकाररूप पशु, आकाश मे दिखाई देते है, जिन पशुओ का पति पहिले प्रजापति था। और वाद मे अर्थात् प्रजापति का शिरश्छेद करने के पश्चात् भूतपति मृगव्याध उनका अधिपति बन गया। इस प्रकार इस आख्यान के नायक ऋषि, देवता व पशुओ के रूपो से युक्त

आकाशविशेषप्रदेशस्थ ताराओं के नाम व प्रभाव का निरूपण इस आख्यान के द्वारा किया गया है।

इस आख्यान द्वारा आख्यानिकों के अभिप्रेत द्युलोकस्थ ताराओं के विज्ञान का निरूपण करने के बाद अब निदानविदों द्वारा अभिप्रेत इस आख्यान के विज्ञान का निरूपण किया जा रहा है :

यह आख्यान 'अनुगम' है। क्योंकि किसी विशेष देवता आदि से जिसका सम्बन्ध न होकर अनेको के साथ जिसका सम्बन्ध होता है उसे अनुगम कहते है। इस आख्यान का सम्बन्ध केवल आकाशमण्डलस्थ नक्षत्रों के साथ ही न होकर उषा के साथ भी अवश्य है। जैसे—१२ प्रजापतियो मे से एक द्युप्रजापति भी है। इसी द्युप्रजापति से उषा उत्पन्न होती है। इसीलिए उषा को द्युप्रजापति की लडकी निम्न मन्त्र मे कहा गया है—

'एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवति. शुक्रवासा॰।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ ॥'
(ऋ. १।११३।७)

"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥"
(ऋ १।१६४।३३)

इस ऋड्मन्त्र मे भी द्युलोक को पिता (प्रजापति) कहा गया है।

उषा का उत्पादक द्युप्रजापति सूर्य ही है। प्रात काल प्रतिदिन सूर्य प्रजापति उषा के पीछे रहता है। क्योंकि उषा सूर्य से ३० अंश आगे रहती है। पहिले उष काल आता है, तत्पश्चात् सूर्योदय होता है। इस प्रकार उष काल के बाद सूर्योदय का होना ही उषारूप पुत्री के पीछे सूर्यरूप द्युप्रजापति के द्वारा उषा का अनुधावन करना है। इस तथ्य को स्वय ऋड्मन्त्र बतला रहा है—

'सूर्यो देवीमुषसं रोचमाना मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।'
(ऋ. १।११५।२)

अर्थात् सूर्य प्रकाशमान उषा देवी का उसी प्रकार पीछा करता है जिस प्रकार मनुष्य स्त्री के पीछे दौड़ता है।

उपर्युक्त आख्यान का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के सप्तम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में किया गया है। जैसे— 'प्रजापतिर्ह वै स्वा दुहितरमभिदध्यौ' इति। यही पर भगवान् याज्ञवल्क्य ने इस आख्यान का रहस्य 'दिवं वोषस वा' इस उक्ति द्वारा बतला दिया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३।३।९) मे भी 'दिवमित्यन्य आहुरुपसमित्यन्ये' के द्वारा इसी रहस्य का उल्लेख किया गया है। जिसका कि निरूपण ऊपर किया जा चुका है। अर्थात् इस आख्यान का समन्वय आकाशमण्डलस्थ नक्षत्रो तथा उषा दोनों मे होता है।

यदि प्रजापति के अपनी पुत्री का अनुधावन करने के कारण ही पुराणों को अश्रद्धेय वा अप्रामाणिक माना जायगा तो ऋङ्मन्त्र मे भी इसका निरूपण होने से संहिता को भी अश्रद्धेय तथा अप्रामाणिक मानना पडेगा। निम्नाङ्कित मन्त्र मे इस घटना का स्पष्ट उल्लेख है—

'पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिञ्चत्' (ऋ. १०।६१।७) इति। उयर्युक्त पौराणिक असदाख्यान तो उपर्युक्त मन्त्र के अर्थ का स्पष्टीकरण ही कर रहा है। अतः वेदार्थ का उद्घाटक होने से असदाख्यान के प्रतिपादनमात्र से पुराणो को अप्रामाणिक नही माना जा सकता।

सप्तद्वीपा, सप्तसमुद्रा पृथिवी

पृथ्वी को पुराणो मे सप्तद्वीपवती वतलाया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक मे 'सप्तद्वीपा वसुमती' कहकर पृथिवी मे सात द्वीपो की सत्ता बतलाई है। वे सप्तद्वीप-जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप व पुष्करद्वीप है। ये द्वीप उत्तरोत्तर अधिक परिमाण वाले तथा भिन्न भिन्न समुद्रो से वेष्टित वतलाये गये है। जैसे जम्बूद्वीप अपने समान परिमाण व विस्तार वाले लवण समुद्र से परिवेष्टित है। जैसे परिखा (खाई) बाहर के उपवन से घिरी रहती है उसी प्रकार क्षार समुद्र भी अपने से द्विगुणित विस्तार वाले प्लक्षद्वीप से घिरा हुआ है।

प्लक्षद्वीप अपने ही समान आकार वाले इक्षुरस के समुद्र से घिरा हुआ है। यह समुद्र भी इससे आगे प्लक्षद्वीप से द्विगुणित आकार वाले शाल्मलीद्वीप से परिवेष्टित है। यह शाल्मलीद्वीप भी अपने ही समान आकार वाले मदिरा के समुद्र से घिरा हुआ है।

इससे आगे अर्थात् मदिरा के समुद्र से आगे उससे द्विगुणित आकार वाला कुशद्वीप है। यह कुशद्वीप अपने ही समान आकार वाले घृत के समुद्र से परिवेष्टित है। इससे आगे इस कुशद्वीप से द्विगुणित परिमाण वाला क्रौञ्चद्वीप है। यह क्रौञ्चद्वीप भी अपने समान विस्तार वाले दूध के समुद्र से घिरा हुआ है। इस क्षीर समुद्र के चारो ओर ३२ लाख योजन विस्तार वाला शाकद्वीप है। यह शाकद्वीप भी अपने ही समान परिमाण वाले दधिमण्डोद अर्थात् मट्ठे के समुद्र से घिरा हुआ है। इसी तरह मट्ठे के समुद्र से आगे उससे दुगने विस्तार वाला पुष्करद्वीप है। यह पुष्करद्वीप अपने ही समान विस्तार वाले मीठे जल के समुद्र से परिवेष्टित है। यहाँ अग्नि की शिखा के समान देदीप्यमान लाखो स्वर्णमय पखड़ियों वाला एक वहुत बड़ा पुष्कर अर्थात् कमल है, जो ब्रह्माजी का आसन माना जाता है। इस पुष्करद्वीप के मध्य मे पूर्वीय पश्चिमीय विभागों की मर्यादा निश्चित करने वाला मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है। यह दस हजार योजन ऊँचा और दस हजार योजन लम्बा है। इसके ऊपर चारो दिशाओं में इन्द्रादि लोकपालों की चार पुरी है।

जम्बू आदि द्वीपो में क्रमश जम्बूनामक वृक्ष, प्लक्षनामक वृक्ष (पाकर), शाल्मली नामक वृक्ष (सेमर), कुशों का झाड़, क्रौञ्च नामक पर्वत व शाकनामक वृक्ष तथा पुष्कर (कमल) है। इन्ही के कारण उनके जम्बूद्वीप आदि नाम हुए है। इन सब द्वीपो मे विभिन्न पर्वत, नदियाँ है। इस प्रकार पृथ्वी पर उपर्युक्त ७ द्वीपो की स्थिति भागवतादि पुराणों में वतलाई है। परन्तु इस पृथ्वी पर जम्बूद्वीप को छोड कर और कोई प्लक्षादि द्वीप उपलब्ध नही हो रहे है और न उन द्वीपो को घेर कर रहने वाले इक्षुरससमुद्र, सुरासमुद्र, घृत-समुद्र, क्षीरसमुद्र, मट्ठे का समुद्र, स्वादूदक (मीठे जल का) समुद्र ही इस पृथ्वी पर दृष्टिगोचर होते है। इनके पृथ्वी पर उपलब्ध न होने पर भी पुराणों मे इनका वहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। इस कारण भी लोग पुराणो को गपोडपुराण की संज्ञा देते है।

किन्तु पुराणों मे इन द्वीपो और समुद्रो का जो वर्णन किया गया है वह मिथ्या नही है। इसके लिए पौराणिक परिभाषाज्ञान की आवश्यकता है। पृथ्वी की उस परिभाषा का ही निरूपण यहाँ किया जा रहा है।

पृथ्वी मर्त्य व अमृत भेद से दो प्रकार की है। पिण्डरूपा पृथिवी भूमि कहलाती है। जिसका स्पर्श होता है, वह पिण्डरूप पृथिवी है। यही पिण्डरूपा पृथिवी है जिसे कि भूमि नाम से भी व्यवहृत किया जाता है तथा यह मर्त्य पृथिवी व चित्य पृथिवी भी कहलाती है। तथा दूसरी प्राणरूपा पृथिवी है जिसे अमृता पृथिवी व चितेनिधेय पृथ्वी कहा जाता है।

इस मर्त्य, चित्य व पिण्ड पृथिवी के केन्द्र मे अग्निप्राण रहता है। जैसा कि 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' यह श्रुति बतला रही है। पृथिवी-पिण्ड के केन्द्र मे रहने वाला वह अग्निप्राण इस भूपिण्ड से निकलकर पृथिवी के २१ वें अहर्गण से भी आगे २२ वें अहर्गण तक फैला हुआ है। पृथिवी के २१ वे अहर्गण पर सूर्य की स्थिति है। जैसा कि 'एकविंशो वा (भुवनस्य) आदित्यः' (ता. ४।६।३) 'असौ वा आदित्य एकविंशः' (तै. १।५।१०।६) इत्यादि श्रुतियां बतला रही है। यही पुष्करद्वीप है जिसमें ब्रह्मा रहता है। पुष्करद्वीप के मध्य में उसके पूर्वीय व पश्चिमीय विभागों की मर्यादा निश्चित करने वाला मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है। उसके ऊपर चारों ओर इन्द्रादि लोकपालों की चार पुरियां हैं। इस के बाद लोकालोक पर्वत है जो सूर्य आदि के द्वारा प्रकाशित व अप्रकाशित भागों को अलग करता है। सूर्यादि द्वारा प्रकाशित लोकों का इतना ही विस्तार है। इस से सिद्ध है कि जम्बू और अन्य द्वीप भूपिण्ड से प्रारम्भ कर सूर्य तक स्थित है। यह सूर्य ही त्रैलोक्य का प्रजापति है और प्रजापति ही ब्रह्मा है। यही सकल सृष्टि का निर्माता है। इसीलिये 'नून जना. सूर्येण प्रसूता:' यह श्रुति सकलजगत् की उत्पत्ति अर्थात् त्रैलोक्य की उत्पत्ति तथा पार्थिव सकल पदार्थों की सृष्टि सूर्य से बतला रही है। सूर्य ही देवरथ है, जैसा कि 'आदित्यो वै देवरथ.' यह श्रुति बतला रही है। अग्निप्राणरूपा पृथिवी २१ वें अहर्गण पर पुष्करद्वीप मे विद्यमान देवरथ रूप सूर्य को भी पार कर २२ वे अहर्गण तक जाती है। इसीलिए पृथिवी के साम को रथन्तर कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणरूपा अमृता पृथिवी २२ वे अहर्गण तक जाती है। यही भूकेन्द्र से निकल कर उत्तरोत्तर फैलने वाली अमृता पृथिवी का प्रथन है। प्रथन के कारण यह अमृता प्राणरूपा पृथिवी कहलाती है। किन्तु यह प्रथन भूपिण्डरूप मर्त्य पृथिवी का नही होता अपितु अग्निप्राणरूपा अमृता पृथिवी का होता है। अतः प्राणरूपा

अमृता पृथिवी ही वस्तुतः पृथिवी कहलाती है। पिण्डरूपा मर्त्या पृथिवी तो भूमि कहलाती है। किन्तु प्राण व प्राणी का अभेद मान कर भूपिण्ड को पृथिवी कह दिया जाता है।

जम्बूद्वीप को छोड़कर पूर्व पूर्व द्वीप से द्विगुणित रूप मे विद्यमान उत्तरोत्तर द्वीप इस अमृतारूपा पृथिवी मे है। अग्निप्राण का स्वभाव है कि वह उत्तरोत्तर विशकलित होता हुआ अधिक फैलता है। इसी कारण से अमृता पृथिवी मे विद्यमान प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक तथा पुष्कर ये उत्तरोत्तर द्वीप पूर्व पूर्व द्वीप से द्विगुणित परिमाण वाले वतलाये गये है। लवण समुद्र को छोडकर इक्षुरससमुद्र, सुरासमुद्र, घृतसमुद्र, क्षीरसमुद्र, दधिमण्डोद तथा स्वादूदक समुद्रो की सत्ता भी भूमि पर न होकर अमृता पृथिवी मे ही है। अमृता प्राणरूपा पृथिवी के उत्तरोत्तर विशकलित होकर फैलने के कारण इक्षुरस समुद्रादि भी पूर्व पूर्व समुद्र से द्विगुणित व अधिक विस्तृत है।[1] अतः पृथिवी शब्द जिसका कि पुराणो मे प्रयोग हुआ है वह भूमि अर्थात् पिण्ड पृथिवी का वाचक न होकर उत्तरोत्तर फैलने वाली अमृता पृथिवी का बोधक है। प्रथन का अर्थ विस्तार है। यह अग्नि प्राणरूपा अमृता पृथिवी उत्तरोत्तर प्रथित (विस्तृत) होती जाती है। उसी मे प्लक्षादि ६ द्वीपो की अपेक्षा से उत्तरोत्तर द्वीप का द्विगुणित होना उपपन्न हो सकता है। यदि भूपिण्ड मे ही इन द्वीपो की सत्ता होती तो पूर्व पूर्व द्वीप की अपेक्षा उत्तरोत्तर द्वीपो मे तथा पूर्व पूर्व समुद्र की अपेक्षा उत्तरोत्तर समुद्रो मे द्विगुणता नही हो सकती थी। एक प्रश्न यह वच जाता है कि अमृता पृथिवी मे विद्यमान ये द्वीप व समुद्र विना आधार के कैसे रहेगे तो इसका समाधान है कि सभी द्वीप, समुद्र, ग्रह, नक्षत्र आदि परस्पर के आकर्षण से स्थित है। अन्यथा इस भूपिण्ड तथा जम्बूद्वीप

---

१. ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन्, यत एव कृता. सप्त भुवो द्वीपाः जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषा परिमाण पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासख्य द्विगुणमानेन, वहि· समन्तत उपक्लृता· । क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोद-शुद्धोदा सप्त जलधय सप्त द्वीपपरिखाइवाभ्यन्तरद्वीपसमाना· ·· उपकल्पिताः। (भाग. ५ स्कन्ध १ अध्याय)
इनका विस्तृत वर्णन भागवत के ५ स्कन्ध के २० वें अध्याय मे किया गया है। विस्तारभय से उसका निरूपण यहाँ नही किया जा रहा है।

का ही कौन सा आधार है जिस पर ये स्थित हैं। इस प्रकार प्राणरूपा अमृता पृथिवी में प्लक्षादि द्वीपों तथा इक्षुरसादि समुद्रों की सत्ता मानने पर पृथिवी के सप्तद्वीपा व सप्तसमुद्रा होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। अत. पुराणों का पृथिवी में सात द्वीपों व सात समुद्रों का वर्णन यथार्थ है और पृथिवी पर उनका वर्णन करने वाले पुराणों मे अयथार्थता व काल्पनिकता का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता।

वसिष्ठादि का मैत्रावरुणित्व व उर्वशीजन्यत्व

पुराणो मे यह उल्लेख मिलता है कि उर्वशी अप्सरा में मित्र और वरुण के द्वारा वीर्याधान से वसिष्ठ, अगस्त्य तथा मत्स्य ऋषि की उत्पत्ति हुई। कथानक इस प्रकार है कि आदित्यसत्र मे मित्र व वरुण देवता भी आये और उर्वशी अप्सरा भी उस यज्ञ में पहुँची। उर्वशी के सौन्दर्य को देखकर मित्र और वरुण काममोहित हो गये और उनका वीर्य स्खलित हो गया। वह वीर्य वासतीवरनामक कुम्भ मे गिरा। उस कुम्भ मे उत्तर की तरफ जो वीर्य गिरा उससे वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई। कुम्भ के मध्य मे जो मित्र और वरुण का वीर्य गिरा उससे मत्स्य ऋषि उत्पन्न हुए तथा कुम्भ मे दक्षिण की तरफ जो वीर्य गिरा उससे अगस्त्य ऋषि उत्पन्न हुए। इसलिये वसिष्ठ, मत्स्य व अगस्त्य तीनो ऋषि मित्र और वरुण के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण मैत्रावरुणि तथा कामासक्त उर्वशी का उस वीर्य में मनोयोग होने के कारण उर्वशीजन्य या उर्वशीपुत्र कहलाये। निम्नलिखित ऋड्मन्त्र इसी तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं—

'विद्युतो ज्योति. परि सञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत् त्वा विश आजभार॥
(ऋ. ७/३३/१०)

सत्रे ह जाताविषिता नमोभि: कुम्भे रेत: सिषिचतु: समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥
(ऋ. ७/३३/१३)

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जात:।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवा: पुष्करे त्वाऽददन्त॥
(ऋ. ७/३३/११)

'अप्सरस. परिजज्ञे वसिष्ठः । (ऋ. ७/३३/१२)

इन मन्त्रो से आदि ब्रह्मा के जन्मस्थान पुष्कर मे देवसम्बन्धी ब्रह्म से सम्पन्न, उर्वशी मे पतित मित्र और वरुण दोनों के वीर्य की विन्दु से उत्पन्न पुरुष को सभी देवताओ ने वसिष्ठ रूप से स्वीकार किया, यह सिद्ध होता है ।

वृहद्देवता मे शौनक ने यही बात कही है । जैसे—

तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम् ।
रेतश्चस्कन्द् तत् कुम्भे न्यपतद्वासतीवरे ॥१॥

तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी सवभूवतु ॥२॥

बहुधा पतित रेत. कलशे च जले स्थले ।
स्थले वसिष्ठस्तु संभूत ऋषिसत्तम. ॥३॥

कुम्भे त्वगस्त्य. सभूतो जले मत्स्यो महाद्युति ।
उदियाय ततोऽगस्त्य शम्याकारो महातपा· ॥४॥

मानेन समितो यस्मात्तस्मान् मान्य इहोच्यते ।
यद्वा कुम्भादृषिर्जात कुम्भेनापि हि मीयते ॥५॥

कुम्भ इत्यभिधानं च परिमाण च लक्ष्यते ।
ततोऽप्सु गृह्यमाणासु वसिष्ठ. पुष्करे स्थित. ।
सर्वत· पुष्करे तं हि विश्वेदेवा अधारयन् ॥६॥ इति ।

किन्तु आदित्यसत्र मे समागत मित्र और वरुण देवता के उर्वशी को देखकर कामासक्त होने के कारण उनके वीर्य का वासतीवर नामक कुम्भ मे गिर जाने से वसिष्ठादि ऋषियो की उत्पत्ति तर्कसगत प्रतीत नही होती । और ऐसी असभव बातो के निरूपण के कारण पुराणो में अश्रद्धा उत्पन्न होती है । किन्तु इस उपाख्यान के वैज्ञानिक रहस्य को जान लेने के वाद इस अश्रद्धा का परिहार हो जाता है । अत इसके वैज्ञानिक रहस्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है । किन्तु इससे पूर्व ऋषिशब्द के चतुर्विध प्रवृत्तिनिमित्तो का निरूपण करना आवश्यक है । अत. सक्षेप से उनका प्रतिपादन किया जा रहा है । ऋषिशव्द की प्रवृत्ति के चार कारण है । अर्थात् ऋषिशव्द चार अर्थों में प्रयुक्त होता है । मौलिक प्राणों मे, आकागस्थ

ताराओं में, उन प्राणों के द्रष्टा तथा मन्त्रों के निर्माता विद्वान् मनुष्यों में तथा मन्त्रों के वक्ता पुरुषों में।

असल्लक्षण प्राणो तथा अन्य प्राणों के लिए वेद में ऋषिशब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

'असद्वा इदमग्र आसीत्। किं तदसदासीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषय. इति, प्राणा वा ऋषय' इस शतपथश्रुति मे मौलिक असत् प्राणो को ऋषि कहा है। इसी प्रकार—

'साकजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥
(ऋ. १/१६४/१५)

इस मन्त्र में अग्नि, वायु आदि देवताओं से उत्पन्न दो श्रोत्र, दो चक्षु, दो घ्राण तथा एक वाक् इन सात शीर्षण्य प्राणों को ऋषि कहा है। इस प्रकार प्राण भी ऋषिशब्द का अर्थ है।

इसी प्रकार 'सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते। अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति' इति। इत्यादि श्रुतियों मे, उत्तरदिशा में आकाश में ध्रुवतारा के पास दीखने वाले मरीचि आदि स्थूल ताराओ के लिये ऋषिशब्द का प्रयोग हुआ है, जिन्हे सप्तर्षि कहा जाता है।

उपर्युक्त प्राणलक्षण तथा तारालक्षण ऋषियों का दिव्य दृष्टि से अर्थात् आर्ष चक्षु से साक्षात्कार करने वाले व मन्त्रो का निर्माण करने वाले अनूचान विद्वान् मनुष्यो के लिये भी ऋषिशब्द का प्रयोग हुआ है।

जैसे—'यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
ता देवी वाच हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके।'
इति।

'मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्रादुर्दैवीं वाचम्॥' इति।
यो वै ज्ञातोऽनूचान स ऋषिः (शत. ब्रा)

'साक्षात्कृतधर्माणो हि ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादु (नि. १ अध्याय) इति।

इसके अतिरिक्त 'यस्य वाक्य स ऋषि.' इस निरुक्तस्मृति के अनुसार मन्त्र या सूक्त का जो वक्ता होता है उसे भी ऋषि कहते हैं।

यह वाक्यसापेक्ष मान्त्रवर्णिक ऋषि कहलाता है। इन चार प्रकार के ऋषियो के प्रातिस्विक परस्पर विभिन्न धर्म हैं। किन्तु नाम की समानता के कारण एक के धर्मका दूसरे मे आरोप कर अन्य के धर्म का अन्य मे उल्लेख कर दिया गया है। जैसे अनेकवर्षसहस्रजीवित्व धर्म प्राणलक्षण ऋषियो मे बनता है। किन्तु इन प्राणो का साक्षात्कार करने वाले शतायु मनुष्य ऋषियो मे यह धर्म नही है। इसी प्रकार वसिष्ठादि प्राणलक्षण तथा तारालक्षण ऋषियो मे ही मैत्रावरुणित्व व उर्वशी जन्यत्व धर्म है। उन प्राणो के द्रष्टा मनुष्यरूप ऋषियो मे नही। इसीलिए मानव ऋषि वसिष्ठ उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्रो मे प्राणलक्षण व तारालक्षण वसिष्ठ को सबोधित कर उसे मैत्रावरुणि तथा उर्वशी से उत्पन्न बतला रहा है। तारारूप व प्राणरूप वसिष्ठ का साक्षात्कार करने वाला मानव वसिष्ठ स्वय को संबोधित कर अपने-आपको मैत्रावरुणि तथा उर्वशीजन्य कैसे बतला सकता था।

उपर्युक्त रीति से मैत्रावरुणित्व व उर्वशीजन्यत्व धर्म वस्तुत. प्राणरूप तथा तारारूप वसिष्ठ मे ही उपपन्न होता है। अब केवल यह बतलाना है कि प्राणरूप वसिष्ठादि मे मैत्रावरुणित्व व उर्वशी-जन्यत्व कैसे उपपन्न हो सकता है। इसके लिए वैदिक विज्ञान की ही शरण लेनी पड़ेगी।

वैदिक विज्ञान के अनुसार भौमस्वर्गवासी देवताओ के नाम ही मित्र और वरुण नही हैं। किन्तु ३६० अंशो का जो खगोलवृत्त है। उसके मध्य मे याम्योत्तर (दक्षिणोत्तर) रेखा खीचने पर खगोल दो भागों में विभक्त हो जाता है। वे दो भाग है पूर्वकपाल व पश्चिमकपाल। उनमें पूर्वकपाल की संज्ञा मित्र है क्योकि खगोल के पूर्वकपाल मे सौर प्राण प्राणियो से स्नेह करता है, उनमे आता है तथा पश्चिमकपाल मे जब सूर्य आता है तब सौर प्राण का ह्रास होता है तथा उसका प्राणियो से वियोग होता है। अतः पूर्वकपालस्थ आदित्य प्राणियों के साथ संस्नवशील होने से मित्र कहलाता है। तथा पश्चिमकपालस्थ आदित्य विशरणशील होने से वरुण कहलाता है। खगोल के दोनो कपालो की विभाजिका खगोलमध्य मे वर्तमान याम्योत्तर रेखा ही उर्वशी है क्योकि वह मध्यरेखा होने से सबसे बडी रेखा है। इसलिये उरु-विशालं प्रदेशम् अश्नुते-व्याप्नोति, इस व्युत्पत्ति से विशाल अन्तरिक्ष प्रदेश को व्याप्त करने के कारण उर्वशी कहलाती है। वह अन्तरिक्षस्थ जल में सरण (गमन) के कारण 'अप्सु सरति' इस व्युत्पत्ति से अप्सरा

कहलाती है। इसी मध्यरेखारूप उर्वशी में पूर्वकपालरूप मित्र तथा पश्चिमकपालरूप वरुण दोनो के रस का सम्बन्ध होता है। यही मित्र और वरुण के द्वारा वीर्य का सेचन है। इस विशाल अन्तरिक्ष में दिक्सोम व्याप्त है। इस अन्तरिक्ष मे दिक्सोम के व्याप्त होने से इसे सोमकुम्भ कहा जाता है। इस अन्तरिक्ष के उत्तरभाग मे मित्र और वरुण के रस का मध्यरेखारूप उर्वशी मे सेचन होने से शीतवीर्य-प्रधान वसिष्ठ प्राण उत्पन्न होता है। दक्षिण भाग में उष्णवीर्यप्रधान अगस्त्य प्राण उत्पन्न होता है और मध्य में शीतवीर्य तथा उष्णवीर्य दोनों का संमिश्रण होने से अनुष्णाशीतवीर्यप्रधान मत्स्य प्राण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष के उत्तरभाग मे शीतवीर्यप्रधान वसिष्ठतारा रहता है। दक्षिण में उष्णवीर्यप्रधान अगस्त्य का तारा रहता है और मध्य मे मत्स्य। इस प्रकार प्राणरूप व तारारूप वसिष्ठादि ऋषियों में मैत्रावरुणित्व व उर्वशीजन्यत्व धर्म की उपपत्ति है न कि मनुष्यरूप वसिष्ठादि मे। किन्तु पुराणो में नामसाम्य के कारण प्राणरूप व तारारूप के मैत्रावरुणित्वादि धर्मो का मनुष्य वसिष्ठादि मे आरोप होने से साङ्कर्य के कारण मनुष्यरूप वसिष्ठादि को भी मैत्रावरुणि व उर्वशीजन्य बतला दिया गया है। इति शम्।